Chap-7

सप्तम् अध्याय

"वाल्मीकि त्रिपाठी के कथा–साहित्य में पात्रों की विविध भूमिकाएँ"

व्यक्ति की भाँति रचनाकार भी मानव समाज का एक अभिन्न अंग माना गया है। रचनाकार जिस समाज में या समुदाय विशेष में जन्म लेता है, वह उन्हीं की सम्भव सुविधाओं के सहारे आगे बढ़ता है, और साथ ही सामाजिक उपलब्धियों को भी मानसिक रुप में ग्रहण करता है, और समाज का अपरिहार्य अंग बनकर आजीवन जीवित रहता है, और उसी मानव समाज के प्रति वह अपनी रचनात्मक सृष्टि के द्वारा ऋण होने का साहित्यिक प्रयास भी करता है। डॉ. त्रिपाठी एक सशक्त रचनाकार हैं, उन्होंने मानव समाज के तमाम अंतर्विरोधों को सहन ही नहीं किया, बल्कि अपनी लेखन-शैली द्वारा उन्हें संश्लिष्ट रुप में व्यक्त भी किया। उनकी पकड़ सदा संश्लिष्ट ही रहीं। उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ सामाजिक उपन्यासों का भी सृजन किया। उनकी रचनाओं में वह तमाम सामग्री प्राप्त होती है, जो एक उपन्यासकार के लेखन-शैली में होनी चाहिए। उन्होंने अपनी रचनाओं में चाहे वह ऐतिहासिक हो या सामाजिक, पात्रों का चयन बड़ी ही कुशलता से किया है, और साथ ही उनके द्वारा व्यक्त विविध भूमिकाओं को भी कुशल रुप से निर्वहण किया है। उनके पात्रों के परस्पर वार्तालाप और संवादों में निहित आधुनिक वैचारिक चेतना का भी हमें आभास मिलता है।

डॉ. त्रिपाठी के उपन्यासों में कई पात्र इतिहास-सम्मत हैं, जिनसे सम्बन्धित घटनाएँ ऐतिहासिकता से जुड़ी हुई हैं, और कई रचनाओं में पात्रों का चयन काल्पनिक रुप में किया है, जिनसे वर्तमान परिवेश की चर्चा की गई है। उनकी रचनाओं के पात्र काल्पनिक होते हुए भी यथार्थ की कसौटी पर खरे उतरते भी नज़र आते हैं। लेखक ने कई ऐसे पात्रों का भी अपने उपन्यासों में चयन किया है, जो कथा-विस्तार में सहायक होते हैं, कई पात्रों को लेखक ने प्रतीकों के माध्यम से भी चित्रित किया है। कहीं-कहीं पर लेखक ने इतिहास की निर्जीव घटनाओं को सजीव रुप प्रदान करने के लिए काल्पनिकता की सृष्टि की है, किन्तु ये पात्र भी इतने परस्पर घुल-मिल गए हैं कि ऐतिहासिक ही प्रतीत होते हैं।

डॉ. त्रिपाठी के कथा-साहित्य में निहित पात्रों की विविध भूमिकाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

<u>सम्राट अशोक :</u>

'सम्राट अशोक' उपन्यास में डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी ने पात्रों की संयोजना ऐतिह्य तथ्यों के अनुरुप करते हुए उनके चारित्रिक विशेषताओं को प्रसंगानुकूल उचित विस्तार देते हुए विषय को प्रासंगिक बनाने का प्रयत्न किया है, तो इस उपन्यास के प्रमुख पात्र इतिहास के ही स्थापित चरित्र हैं, जिनमें मुख्य रुप से अशोक और चाणक्य का उल्लेख हुआ है।

अशोक प्रमुख रुप से प्रशासक है, किन्तु प्रशासन की बागडोर विष्णुगुप्त चाणक्य के हाथ में है। चाणक्य जो राजनीति में गहन अनुभव रखते हुए अपने कुटनीतियों के प्रयोग के लिए चर्चित रहा है। वह महामात्य होते हुए भी सम्राट अशोक का संरक्षक एवं अभिभावक बना रहा है। साम्राज्यवादी दृष्टि से संलग्न चाणक्य के सामने अपने दुश्मनों का हनन और राज्य की सीमाओं का विस्तार करना साम्य रहा है। चाणक्य अशोक को अपने आदेश मानने के लिए

बाध्य करता है, और अशोक भी चाणक्य को कूटनीतिज्ञ दूरदर्शिता के प्रति आस्थावान होकर उनके प्रति समर्पित हो जाता है। यहाँ अशोक सम्राट होते हुए भी प्रशासनिक अधिकारों की सर्वोच्यता ग्रहण नहीं कर पाता; न ही कोई मुख्य निर्णय लेकर किसी नई व्यवस्था को क्रियान्वित कर पाता है। हर आदेश व बदलाव के आगे वह चाणक्य का मुखापेक्षी रहता है।

मुख्य रुप से तो चाणक्य नंदवंश का प्रतिशोधी शत्रु है, जहाँ वह शिखावंदन खोलकर शपथ लेता है, कि 'जब तक नंद वंश का नाश नहीं कर दूँगा, तब तक शिखाबद्ध नहीं होऊँगा।' राज्य-व्यवस्था में न्यायिक पदों पर आसीन होकर न्याय और अन्याय की घोषणा करने वाले व्यक्ति को हठाग्रही नहीं होना चाहिए। किन्तु चाणक्य का आग्रह या दुराग्रह अथवा पूर्वाग्रह सब कुछ उनकी अपनी निहित स्वार्थपरता पर अवलंबित होती है। एक ओर वह साम्राज्यशाही प्रवृत्ति के तहत अपनी अधिकार शक्ति को प्रसरित करता है, तो दूसरी ओर वह इस संघठित और परिबद्ध शक्ति के द्वारा नंद वंश के विनाश के उपक्रम से जुड़ जाता है। इस प्रकार वह हर हालत में सारी व्यवस्था को अपने हाथों में केन्द्रित कर लेता है। वह सम्राट अशोक का सलाहकार संरक्षक भी है, राज्य सरकार का मूर्धन्य अधिकारी सेनानायक भी है, और महाराज अशोक का राजगुरु भी है। वह अत्यंत कड़े अनुशासन का पक्षधर है, जहाँ त्रुटियों को क्षमा करने की कोई संभावना दृष्टिगत नहीं होती। हर समय कठिन निर्णय लेने के लिए राज्याधिकारी बाध्य होता है। यह सोचकर भी चाणक्य अनुशासित जिंदगी जीता आया है। वह अपने उन आदेशों को भी दृढ़ता और हठाग्रह के साथ राज्य-व्यवस्था पर आरोपित करता है, जिसे अन्य सहयोगी लोग पसंद नही करते, और उसके लिए वह स्वयं चंद्रगुप्त की भी परवाह नहीं करता। इन अकूर्त अधिकारों के अधिग्रहण में आपसी टकराव भी पैदा होता है, और एक अनिश्चित संशय भी सामने आ खडा होता है। चाणक्य का यह दर्प जब एक सीमा से आगे बढ़ जाता है, तब सम्राट अशोक उसके मध्य एक दुर्लभ खाई पैदा कर देता है, लेकिन चाणक्य इसकी चिंता नहीं करता।

चाणक्य अपने निर्णयों के आगे किसी भी अवरोह को स्वीकार नहीं करता। चंद्रगुप्त उसका शिष्य भी है, और प्रशासक राजा भी। चाणक्य इस मर्यादा से संलग्न अपने प्रशासनिक अधिकारों को जानता है, किन्तु उसे अभिमान इस बात का है, कि उसके बिना राज्य अब अधिक दिनों तक व्यवस्थित रुप से संचलित नहीं हो पाएगा।

अशोक इससे सर्वथा इतर और विपरित मानसिकता में जीने वाला सम्राट अधिपति है। वह अपनी सीमाओं, स्वार्थो, आकांक्षाओं, क्षमताओं और बाध्यताओं से परिचित है। चाहते हुए भी वह चाणक्य के आदेशों की अवहेलना नहीं कर पाता। चाणक्य के गंभीर व्यक्तित्व के सामने वह स्वयं को नगण्य-सा ही अनुभव करता है। अशोक का बड़ा भाई सुसीम था, तक्षशिला के बढ़ते विद्रोह को रोकने के लिए उसे भेजा गया, किन्तु उसके विलासिता में डूबे माहौल को देखकर तक्षशिला निवासी भड़क उठे और उसकी जान के प्यासे हो गए। तभी चाणक्य के आदेशानुसार अशोक को वहाँ की बागडोर सँभालने के लिए भेजा गया। अशोक के अच्छे आचरण से वहॉ के निवासी उसे चाहने लगते हैं, और हर तरफ शांति का वातावरण फैल जाता है। अशोक प्रजापालक, न्यायप्रिय और नारी स्वातंत्र्य का समर्थक था, उसके हृदयमें नारी-सम्मान की भावना थी, जिससे तक्षशिला की प्रत्येक नारी उन पर गर्व किया करती थी। अशोक शैलबाला की बहादुरी की प्रशंसा करता है, और उसके साथ विवाह के सूत्र में बँध जाता है। अशोक एक शूरवीर और कुशल योद्धा भी था, उसकी रणनीति, युद्धनीति बड़ी ही सोच-समझ के द्वारा निर्मित होती थी, किन्तु इन सभी राजनीतिक कार्यों के पीछे चाणक्य की कुशाग्र बुद्धि काम करती थी। अशोक ने कई युद्ध किए, और उन्हें सफलता भी हासिल हुई, किन्तु कलिंग युद्ध के दौरान हुई भीषण मारकाट और मृतक के परिवारजनों द्वारा चीख-चीत्कार सुनकर अशोक का हृदय विचलित हो उठा। कलिंग राज्य जो कि मगध का सबसे बड़ा शत्रु था, उसे भी अशोक ने पराभूत कर दिया। किन्तु यह युद्ध की अवधि सबसे अधिक रही, और इसमें हानि की संख्या बाकी युद्धों से कई गुना ज्यादा थी, किन्तु अशोक के जीवन का यह निर्णायक

युद्ध था। कलिंग की राजमाता के शब्दों ने अशोक को पूरा झकझोर डाला और उसे सत्याभास करवाया कि यह युद्ध जीतकर उसने कोई महानता अर्जित नहीं की, बल्कि उसने यह विजय लाखों-करोड़ों लोगों के शवों पर पैर रखकर जीता है। उस नारी ने अशोक को मानवता का मूल्य बताया और उसी के तहत शेष जीवन-यापन करने की सलाह दी। उन वचनों को सुनकर सम्राट अशोक का हृदय विचलित हो गया। हिंसा ने अहिंसा का स्थान प्राप्त कर लिया। अशोक के आचरण में बदलाव आ गया, और उसने आनंद को अपना लिया, क्योंकि आनन्द की चरमावस्था ही शान्ति कहलाती है। बाद में, सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को अपना लिया, और पूरे भारतवर्ष में इसका प्रचार-प्रसार भी किया। भारत के अलावा विदेशों में भी इसका प्रचार शुरु हो गया। इस तरह अशोक के समक्ष जीवन का अधूरा सत्य प्रकाशित हो गया।

कीर्तिदेव तक्षशिला का प्रशासक था, जिसे महाराज बिम्बसार ने तक्षशिला का प्रादेशिक भी नियुक्त किया था। किन्तु उसने अपने को महाशक्तिशाली समझ लिया और अपनी स्वेच्छाचारिता नग्न-प्रदर्शन करने लगा। उसकी न्यायबुद्धि के समक्ष रीति-रिवाजों, परम्पराओं तथा नैतिक मूल्यों का कोई महत्व नहीं रह गया। तक्षशिला निवासियों पर अन्याय और अत्याचार करना उसका एकमात्र ध्येय बन गया। उसमें एक ही दुर्बलता थी, और वह थी उसकी विलासिता। सुन्दर स्त्रियों का अपहरण करना, दुर्व्यवहार करना आदि उसके कार्य बन गए थे। शैलबाला नाम की सुन्दर नर्तकी ने उसका वध बड़े ही चातुर्यपूर्ण ढंग से कर दिया और उसके द्वारा फैली अराजकता को समाप्त कर दिया।

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी ने 'सम्राट अशोक' उपन्यास में पुरुष पात्रों के अलावा नारी-पात्रों की भी एक अलग पहचान दिखाई है। मात्र पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी कुशल योद्धा हुआ करती थीं। वैसे तो नारी को एक अबला और सुन्दरता की देवी के रुप में ही देखा जाता है, किन्तु इस रचना में वर्णित वीरांगनाएँ ऐसी हैं, जो कि सुन्दर होने के साथ एक सफल योद्धा भी हैं, जो पुरुष से कंधा मिलाकर हर क्षेत्र में मुकाबला करने के लिए तैयार है। शैला, पद्मा, वीरवती,

आदि ऐसी ही सर्वोत्कृष्ट नारियों में से हैं। लेखक[२३१] ने इनकी हर रुप को बड़ी बारीकी से चित्रित किया है। ये तीनों कुशल नर्तकी तो हैं ही परंतु इतनी सुंदर मानो सुन्दरता तो जैसे विरासत में मिली हो। अशोक इन तीनों से विवाह करते हैं, क्योंकि इन तीनों का अपना एक अलग रुप था, जो अशोक को बहुत पसंद था। सम्राट अशोक की सत्ता, शैलबाला का शारिरीक सौंदर्य और संगीत यह त्रिवेणी ही सम्राट को आनन्दित करते थे।

वीरवती शैला और पद्मा की ही मित्र थी, परंतु वह बहुत ही बुद्धिमान और निपुण थी। युद्ध की सारी गतिविधियों का अध्ययन वह बड़े ही कुशलतापूर्वक करती थी। हर सूबे हर राज्य की उसे खबर थी। उसका अपना अलग नारी प्रशिक्षण केन्द्र था, किस समय शत्रुओं से कैसी चाल खेलनी चाहिए, उसे उसका पूरा ज्ञान था। उसकी इसी विशेषता पर अशोक मुग्ध हो गए थे। कलिंग राज्य से युद्ध की सारी रणनीति वीरवती ने तैयार की थी। वह जैसा आदेश करती थी, अशोक वैसा ही हुक्म जाहिर करते थे। कलिंग युद्ध के दौरान अशोक के प्राणों की रक्षा करते हुए उसने अपने प्राण त्याग दिए।

पट्टमहिषी राजा बिन्दुसार की धर्मपत्नी और राज्य की महारानी थी। सुसीम उनका एकमात्र पुत्र था। उनकी भूमिका भी इस उपन्यास में लेखक ने काफी अलग ढंग से चित्रित की है। पट्टमहिषी विलक्षण प्रतिभा से ओत-प्रोत असामान्य गुण-सम्पन्न नारी थी, भविष्यदृष्टा तो वह ऐसी थीं, कि सम्राट तक प्रायः उनके साथ विचार-विमर्श किया करते थे। सहिष्णुता तो उनमें इतनी थी, कि अनेक रानियों के होते हुए भी उनका कोई आचरण कभी ईर्ष्याभाव से प्रेरित नहीं होता था। सर्वप्रियता तो उनमें कूट-कूटकर भरी थी, उनकी सर्वप्रियता होने की विशेषता इस बात से झलकती थी, कि जिस परिचारिका ने अपनी सेवा-सुश्रुषा से सम्राट बिन्दुसार को प्रसन्न कर लिया, उसे ही रानी का अधिकार दिलवा देती थी। और साथ ही, सम्राट की प्रसन्नता का सबसे अधिक ध्यान रखना मानो उनके जीवन का परम लक्ष्य बन चुका था।

आगे, इस रचना में लेखक ने अन्य पात्रों को भी शामिल किया है, जिनकी इस रचना में बहुत छोटी भूमिकाएँ हैं, परन्तु फिर भी वह प्रशंसा के योग्य हैं, और इन पात्रों ने अपने कार्य को बड़ी ही सफलतापूर्वक वरण भी किया है, उनमें से एक पात्र राधागुप्त है। राधागुप्त चाणक्य का सबसे वफादार संदेशवाहक और अमात्य है। राजप्रासाद में घटित सभी घटनाओं की खबर रखना उसका एकमात्र कार्य है। वह चाणक्य का शिष्य होने के कारण अशोक के भी बहुत करीब रहता था। सम्राट तथा महामात्य के अंतरंग सम्बन्धों से राधागुप्त पूर्णतया अवगत था। सम्राट के विशेष अधिकारी के रुप में उसकी गणना की जाती थी। राजप्रासाद की हर गतिविधि का ध्यान रखने के कारण मंत्रणा कक्ष में उसका अपना एक स्थान निर्धारित था। चाणक्य के बाद 'महामात्य' की संज्ञा राधागुप्त को ही दी गई थी।

जहाँदारशाह :-

'जहाँदारशाह' उत्तर मुगलकालीन ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें सम्राट जहाँदारशाह और तीनों भाइयों रफीउश्शानशाह, जहानशाह और अजीमुश्शानशाह के मध्य संघर्ष की कहानी को लेखक ने ऐतिह्य तथ्यों के आधार पर चित्रित किया है। वैसे इस इतिहास-प्रधान उपन्यास में लेखक ने कई पात्रों का चयन किया है, परंतु प्रमुख पात्रों की भूमिकाओं मे जो उभरकर सामने आए हैं, उनमें - जहाँदारशाह, जुल्फिकार खाँ, बेगम लालकुँअरि और जोहराबाई।

'जहाँदारशाह' भारत के उत्तरकालीन मुगल शासन का एक विलासी और अकर्मण्य शाहजादा था, जिसके जीवन के विभिन्न क्रियाकलापों पर यह रचना टिकी हुई है। जहाँदारशाह के चारित्रिक विशेषताओं के सन्दर्भ में लेखक को आरम्भ से ही यह बात स्वीकारने योग्य लगी कि सुरा और सुन्दरी को जीवन का आदि और अन्त समझने वाला शासक जहाँदारशाह नितांत निष्क्रिय शासक था। हर पहलू से यदि सोचें तो ऐसा विलास-प्रिय शासक प्रजा पर शासन कैसे कर सकता है। जहाँदारशाह आजीवन सुप्रसिद्ध नर्तकी लालकुँआरि के प्रेमपाश में ऐसा उलझा

रहा कि उसे राजसिंहासन छोड़कर भागना ही नहीं पड़ा, बल्कि मौत का शिकार भी होना पड़ा। जहाँदारशाह के ऐसे जीवन के अंत में सैय्यद बन्धुओं ने भी प्रमुख भूमिका निभाई।

वैसे, यदि हम सामाजिकता की ओर देखें तो राजपरिवार हमेशा समाज की दृष्टि से उच्चस्थ स्थान पर होता था। जनसामान्य के बीच उसकी स्थिति परे ही होती थी। किन्तु जहाँदारशाह शाहजादा ही नहीं था, बल्कि एक बादशाह होने के कारण भी वह जन-साधारण के बीच उपस्थित होकर सभी महत्वपूर्ण जानकारियाँ हासिल किया करता था। वह जन-सामान्य की तरह सब्जी-मंडी के बीच होकर गुजरता था, और दुकानों पर जाकर वस्तुओं का मोलभाव तक किया करता था। उसे समाज के स्वरुप की कोई चिन्ता नहीं थी, और न ही उसे समुन्नत बनाने की कोई फिक्र। बल्कि जैसा भी समाज हो, वह उसी का अभिन्न अंग बनकर जीवन व्यतीत करने में अपनी आस्था रखता था। राजनैतिक वातावरण तो पूर्णरूप से विलासिता और अकर्मण्यता से भरा हुआ था। सम्राट अपनी शौर्य-क्षमता के बल पर राजगद्दी पर शोभायमान नहीं हुआ करते थे, बल्कि अपने ही अधीनस्थ कर्मचारियों के तिकड़मों और चालबाजियों के कारण सत्ताधारी बना करते थे। इन्हीं राजनीतिक दाँवपेचो के आधार पर जहाँदारशाह जुल्फिकार खाँ की बदौलत भारत-सम्राट बनने का सौभाग्य प्राप्त कर पाया था, परंतु सुरा और सुन्दरी का दास होने की वजह से सैय्यद बन्धुओं की दुरभिसन्धियों के आगे वह टिक नहीं पाया और घुटने टेक दिए। राजनैतिक अस्थिरता ने जैसे युगधर्म का रुप धारण कर लिया था। कुछ भी किसी भी क्षण संभव था, राजा से रंक और रंक से राजा बनते देर न लगती थी। जनसामान्य में इन परिवर्तनों का कोई असर नहीं दिखाई देता था। जहाँदारशाह के समय की राजनीति मृतप्राय थी, क्योंकि परिवर्तन इतना अनिश्चित था, कि यह धारणा बच्चों का खेल-सी हो गई थी।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी का समय भारतवर्ष के लिए उथल-पुथल का रहा।

अस्थिरता की स्थिति चारों ओर बनी हुई थी। जहाँदारशाह में धार्मिकता अधिक थी, परंतु ऐसी स्थिति में धर्म एक अन्धविश्वास माना जाता था। फिर भी जहाँदारशाह बेगम लाल के साथ संतान हासिल करने चिराग दिल्ली में जाकर मजार के पीछे बने तालाब में निर्वस्त्र होकर स्नान भी करते हैं।

'जुल्फिकार खाँ' मुगल सम्राट बहादुरशाह के दरबार का एक प्रभावशाली सरदार था। सम्राट की मृत्यु के पश्चात् उसने प्रधानमंत्री बनकर चारों राजकुमारों को सँभाला, किन्तु जुल्फिकार खाँ अत्यन्त दूरदर्शी था। उसने चारों राजकुमारों में से जहाँदारशाह की ओर अपनी दृष्टि टिका दी। मुनीम खाँ जो कि अजीमुश्शान शाह को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, परन्तु जुल्फिकार खाँ ने ऐसा चक्रव्यूह रचा कि अजीमुश्शान उसके राजनीतिक दाँवपेचों का शिकार बन गया और अपनी जान गँवा बैठा। जिसका लाभ मिलते ही उसने जहाँदारशाह को दिल्ली का बादशाह बना दिया। जुल्फिकार खाँ लालकुँअरि से प्रेम करता था, इसलिए उसे प्राप्त करने के लिए उसने जोहरा नामक एक कुंजड़िन की सहायता ली। जोहरा खाँ के इशारों पर कठपुतली की तरह नाचती थी। परंतु जुल्फिकार खाँ के कुशल बुद्धि के आगे जहाँदारशाह निष्क्रिय हो जाता है। खाँ जहाँदारशाह को मदिरा में डूबोकर सैय्यद बन्धुओं के हाथों में सौंप देता है, जहाँ उसकी मृत्यु बड़ी निर्दयतापूर्वक की जाती है।

'बेगम लालकुँअरि' एक सुप्रसिद्ध नर्तकी थी। जहाँदारशाह से उसका लगाव बहुत अधिक था। जहाँदारशाह भी उसकी रमणीक सुन्दरता के मोहपाश में बँधे हुए थे। एक पत्नी होने के साथ-साथ वह कुशल राजनीतिज्ञ भी थी। राजप्रासाद में चल रहे सभी षडयंत्रों का वह खुलासा करती थी, और जहाँदारशाह की रक्षा के अच्छे प्रबन्ध भी उसने करवाए थे। जुल्फिकार खाँ के सभी चालों से वह वाकिफ थी, इसीलिए वह अपने पति जहाँदारशाह के साथ सती हो गई थी। बेगम लालकुँअरि बादशाह के साथ जन-सामान्य से मिलती-जुलती भी थी, उसने बादशाह की हर दृष्टि से सहायता की थी, आर्थिक विपन्नता के समय भी वह अपने पास जमा

किए हुए धनराशि से उसकी सहायता करती थी। अन्त में, वह अपने पति की चिता के साथ सती हो जाती है।

'जोहराबाई' नामक स्त्री सब्जी-मंडी में बैठनेवाली एक कुंजड़िन थी। जिसे जुल्फिकार खाँ एक मोहरे की तरह उपयोग किया करता था। बादशाह भी जोहरा की खूबसूरती पर फिदा थे। वह राजप्रासाद की सारी महत्वपूर्ण बातें जुल्फिकार खाँ को बताती थी, किन्तु खाँ बेगम लाल को प्राप्त करने की लालसा में अँधा हो गया था। जोहरा को इस बात की खबर न थी, कि वही बेगम लाल की खोई हुई छोटी बहन है। इस रहस्य के खुलते ही वह जुल्फिकार खाँ का साथ छोड़ देती है, और लालकुँअरि को उसके सारे गलत इरादों के बारे में बता देती है। खाँ उसे भी मार डालता है, जोहरा की छोटी-सी भूमिका भी पाठक का ध्यान आकर्षित करती है।

विकलाँग :

विकलाँग डॉ. त्रिपाठी द्धारा रचित चरित्र-प्रधान रचना है। जिसमें रचनाकार ने भारत के राजस्थान भू-भाग के सुप्रसिद्ध राजपूत शिरोमणि राणा संग्रामसिंह के अद्धितीय शौर्य की गाथा को प्रस्तुत किया है। राणा संग्रामसिंह के माध्यम से लेखक ने राजपूती जीवन का सुंदर चित्रण किया है। कई पात्रों के संयोजन से यह सम्पूर्ण कृति तैयार की गई है, लेखक ने अपनी रचना प्रेरणा को स्पष्ट करते हुए तथ्यों के आधार पर इस कृति को संपूर्ण कृति के रुप में स्थापित किया है। लेखक ने संपूर्ण कथा में केन्द्र-बिन्दु राणा संग्रामसिंह को ही बताया है। अन्य पात्रों का चयन मात्र कथा-विस्तार के लिए उपयोग में लाए गए हैं।

डॉ. त्रिपाठी ने उपन्यास के प्रारम्भ में ही 'कुछ शब्द' के अन्तर्गत प्रमुख पात्र राणा संग्रामसिंह की संपूर्ण भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहा है - "जब हम भारतीय इतिहास के

स्वर्णिम पृष्ठों को पलटते हैं तब अनेक ऐसे अविस्मरणीय चरित्र दृष्टिगत होते हैं, जिनकी गौरवपूर्ण गाथाएँ उत्प्रेरक ही नहीं वरन् विशाल भारत के नव-निर्माण में मार्ग-दिग्दर्शन की विशेष क्षमता रखती हैं। राणा संग्रामसिंह उन्हीं वीर-आत्माओं में से हैं, जिनके जीवन की अप्रत्याशित वक्रताएँ, अदम्य साहस, अद्वितीय शौर्य, अतुलनीय रणकौशल तथा आश्चर्यजनक दया आदि ने मुझे आकृष्ट किया और सम्पूर्ण जीवनगाथा को एक सरस एवं रोचक औपन्यासिक रुप प्रदान करने के लिए बाध्य किया।"[1] राणा सांगा इस रचना के केन्द्रिय चरित्र हैं। राजपरिवार के वीर बालक होते हुए भी उन्होंने गड़रिए की भेड़ें चरायीं। पिता राणा रायमल और भाई जयमल की मृत्यु के पश्चात् राणा संग्रामसिंह ही एकमात्र उत्तराधिकारी थे, जिन्होंने सत्ता-प्राप्ति के लिए कोई उठा-पटक नहीं की, बल्कि सहजता से जो भी मिला उसे ही स्वीकार कर लिया था। अपने अदम्य साहस और शौर्य के बल पर राणा संग्रामसिंह ने गुजरात के सुल्तान की सेना को ऐय्याज की अध्यक्षता में पराजित किया था।

वैसे, तो भारतीय इतिहास का मध्यकाल कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, जैसा राजा होता था, वैसी ही प्रजा भी होती थी। राजा और प्रजा के मध्य स्वामी-सेवक सा सम्बन्ध रहता था। राणा सांगा ने अपने माता-पिता व पुत्र के प्रति जीवन-धर्म का निर्वाह करते हुए जन सामान्य की सुख-सुविधाओं पर भी दृष्टि रखी थी। इसी सम्बन्ध के चलते राजा के एक इशारे पर प्रजा बलिदान के लिए तैयार रहती थी। राणा सांगा ने कोई भी राजनीतिक दाँव-पेच से सफलता अर्जित नहीं की, अपनी बुद्धि-कौशल के बल पर सारे युद्धों पर विजय का झंडा गाड़ दिया था। परंतु राजपरिवार के कूटनीति के कारण उन्हीं के स्वामिभक्त सेवक ने उन्हें विष देकर मार डाला था। इस राजनैतिक अस्थिरता के वातावरण में मानव-कल्याण के लिए कोई भी नव-निर्माण सम्भव न था। राणा संग्राम सिंह ने अपनी धार्मिकता को भी स्थापित किया, उस काल में मातृभूमि पर प्राण न्यौछावर करना ही सबसे बड़ा धर्म माना जाता था।

जैसे जीवन के लिए प्राण आवश्यक है, वैसे ही शरीर के धर्म के निर्वाह के लिए अर्थ (धन) भी आवश्यक है। अर्थाभाव के कारण राणा संग्रामसिंह को एक गड़रिए के पास मात्र पेट भरने के लिए नौकरी भी करनी पड़ी और साथ ही साथ खाना भी बनाना पड़ा। आमेर नरेश के यहाँ राणा संग्राम सिंह ने सेनापति के पद का कार्यभार सँभाला था। उनके हर रुप मे हमें एक कुशल नायक का परिचय प्राप्त होता है।

राणा संग्राम सिंह के चरित्र-चित्रण के द्वारा विकलाँग में डॉ. त्रिपाठी ने इस चेतना को विशेष अनुस्यूत किया है, कि जातिगत और धर्मगत भेद जीवन-निर्माण के लिए ज़हर के समान घातक होते हैं। जीवन-यापन के लिए सजगता और सतर्कता अति आवश्यक माना गया है। स्वजनों और परिजनों पर आवश्यकता से अधिक विश्वास करना, और निर्भर होकर जीवन-यापन करना घातक होता है। जैसे - अर्थ के लालच में राणा संग्रामसिंह के रसोइये ने ही उन्हें विष देकर मार डाला था, इसीलिए अकर्मण्यता के आगोश में खो जाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं होता है।

प्रजाप्रिय प्रजेश :

डॉ. त्रिपाठी की यह रचना मानव-धर्म प्रधान रचना है। राजस्थान भारत का वह भूखण्ड है, जो असंख्य प्रजेशों, वीर सेनानियों एवं स्वतन्त्रता प्रेमियों को जन्म देकर उनके बलिदानों, अपरिमेय पराक्रमों जैसी विशेषताओं के कारण अतीत गौरव प्रेमियों के लिए तीर्थ स्थल बना हुआ है। इसी प्रदेश का एक विशेष आकर्षण है - चित्तौड़गढ़। जिसका उल्लेख लेखक ने अपनी इस रचना में किया है। चित्तौडगढ के प्रशासक चूडावत इस रचना के केन्द्रिय चरित्र हैं। देश के लिए जो प्रयत्न किए, उन प्रयत्नों की श्रृंखलाबद्ध गाथा को लेखक ने यहाँ चित्रित किया है।

संसार में सदा मानव ने अपनी अभिलाषाओं और महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिए शक्ति का संग्रह ही नहीं किया, वरन् उसका समय के अनुसार सदुपयोग भी किया है। अत्याचारियों को मार भगाने के लिए जो शक्तिहीनों के द्वारा संगठनात्मक प्रयत्न किए गए, उनमें से चूडावत के प्रयत्न भी शामिल हैं। वैसे तो इस रचना में और भी कई पात्रों का जमघट है, जैसे - राणा मोकल, राणा कुम्भा, रणमल, चाचा और मेरा, राजमाता, भानमती आदि, परन्तु इन सभी पात्रों की भूमिका इस कृति में ज्यादा व्याख्यायित नहीं है। किन्तु चूड़ावत ही एकमात्र ऐसे चरित्र हैं, जिनकी अमिट छाप पूरी रचना में छाई हुई है। कथा का संयोजन भी उन्हीं के आस-पास है।

लेखक ने चूडावत के अद्भुत त्याग, मनवांछित सेवाओं तथा सत्प्रयत्नों, विभिन्न प्रदेशों के मध्य पारस्परिक प्रेम तथा सद्भावना के बीज-बोने एवं मानवीय भावनाओं के प्रचार-प्रसार को पूरी रचना में चित्रित किया है। चूडावत ने अपने पिता राणा लाखा की अभिलाषा पूर्ति के लिए आजीवन अविवाहित रहने की भीष्म प्रतिज्ञा तक कर डाली थी। उन्होंने अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए कई शत्रुओं को मार भगाया था। कहा जाता है, कि दूसरों की सेवा करना ही कर्त्तव्यपरायणता के यश का आधार बनती है। चूडावत में कर्त्तव्य-परायणता कूट-कूट कर भरी थी। 'दूसरों की सेवा करना' - इसी सत्य को डॉ. त्रिपाठी ने चूड़ावत के चरित्र के द्वारा प्रमाणित किया है। चूड़ावत आजीवन राजवंश के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहे, और उसके वदले में कभी किसी वस्तु की इच्छा प्रकट नहीं की, परन्तु एक षडयंत्रवश उन्हें राज्य से निर्वासित होना पड़ा था। किन्तु उसे भी नियति मानकर उन्होंने स्वीकार कर लिया था। मोहम्मद खिलजी चूडावत को अपने राज्य में शरण देने का यत्न करता है, किन्तु फिर भी चूड़ावत अपने रक्त सम्बन्ध को ही महत्व देता है। राजनीतिक दॉव-पेच में चूड़ावत मार खा जाता है, उसके ही संवंधी उस पर आरोप लगाते हैं, किन्तु फिर भी वह अपने कर्त्तव्य का पालन बडी ईमानदारी के साथ निभाता रहता है। शान्ति और संगठन के लिए चूड़ावत का राज्यों में भ्रमण करना भी

उसकी कर्त्तव्यभावना को उत्प्रेरित करती है।

राजमाता भी चूड़ावत पर शक करती है, और उन्हें राज्य से निर्वासित कर देती है, किन्तु भानमती जो कि राजमाता की सबसे प्रिय दासी थी, वह रणमल के कुकृत्यों का पर्दा-फाश कर देती है, जिसे सुनकर राजमाता को बहुत क्षति पहुँचती है, और वह चूड़ावत को फिर से सादर आमंत्रित भी करती है। धर्म की भावना चूड़ावत के जीवन में बहुत महत्व रखती थी। सियासी मामलों के मध्य भी वह अपने धर्म को उचित स्थान प्रदान करते थे। जैसे - "हम राजपूत अपने प्रत्येक आचरण के औचित्य को धर्म की कसौटी पर कसते हैं। धर्मानुकूल आचरण ही श्रेष्ठ समझा जाता है। धर्मविरोधी पाप है। राजनैतिक कार्य हो अथवा अन्य प्रत्येक कार्य की आधारशिला धर्म है..... सम्भवतः आप धर्म और कर्त्तव्य को भिन्न-भिन्न वस्तुएँ समझते हैं। हम राजपूतों की दृष्टि में दोनों एक हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं। हमारा कर्त्तव्य ही हमारा धर्म है। जिसे आप पण्डितों और मुल्ला-मौलवियों की वस्तु समझते हैं, वह धर्म का विकृत रूप है। मानव मात्र का धर्म एक है, समान है। धर्म के आधार पर मानव जाति का विभाजन कुछ स्वार्थान्ध प्राणियों की, धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझ सकने के कारण विकृत व्याख्या का परिणाम है। मानव-जाति के विनाशकारी तत्वों का अस्तित्व इसी अज्ञानता के कारण है।"[2]

चूड़ावत बिना कुछ सोचे धर्म की बलिवेदी पर अपने प्राण न्यौछावर करने में ही गर्व की अनुभूति समझता था। आर्थिक दृष्टि से चूडावत को कभी कोई संघर्ष नहीं करना पड़ा था। राजपरिवार हो या जन सामान्य अर्थाभाव कहीं भी नज़र नहीं आता था। चूडावत रण-कौशल में भी इतना कुशल था, कि दो शासकों के मध्य युद्ध में विजयश्री चूड़ावत का ही पक्ष ग्रहण करती थी। विनय की सजी प्रतिभा 'चूड़ावत' के चरित्र-चित्रण द्वारा लेखक ने यह प्रामाणित कर दिया कि स्वधर्म की बलिवेदी पर उत्सर्ग होने वाले प्राणियों का जीवन धन्य होता है। रचना के अन्त में स्वयं राजमाता के स्वर में लेखक ने यह उद्घोषित कराया है - "जुग-जुग जियो

प्रजाप्रिय प्रजेश! तुम्हारा जीवन धन्य है। धन्य है वह भूमि जिसने तुम जैसे निःस्वार्थ सेवक को जन्म दिया। कर्त्तव्यपरायणता, सेवा एवं तुम्हारे त्याग की कहानी भावी सन्तानों को युगों-युगों तक प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।"[3]

जय-विजय :

डॉ. त्रिपाठी ने अपने इस उपन्यास में सोलहवीं शताब्दी के भारत के ऐसे समाज का चित्रण प्रस्तुत किया है, जो राजनीति प्रधान था। डॉ. त्रिपाठी की यह रचना इतिहास-प्रधान रचनाओं में से एक मानी गई है। इसकी कथा का संविकासन लेखक ने ऐतिह्य तथ्यों के आधार पर किया है। हिन्दू और मुस्लिम के मध्य पारिवारिक सम्बन्धों तथा उनकी गतिविधियों को लेकर इस रचना का निर्माण हुआ है। हेमू हिन्दू समाज का पक्षधर है, और सलीमशाह तथा 'अकवर' मुगलिया शासक के पक्षधर हैं।

इस रचना में डॉ.त्रिपाठी ने जीवन-बोध सम्बन्धी विभिन्न विचारों को जीवन की सूक्ष्म स्थितियों के मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया है, कि प्रमुख पात्रों के जीवन में घटित एक घटना भावी घटना की सम्भावना की ओर संकेत कर देती है। यदि हम इस रचना की भूमिका का अध्ययन करें तो यह तथ्य उभरकर सामने आता है, कि उपन्यासकार ने हेमू के तेजस्वी और प्रेरक व्यक्तित्व से अभिभूत होकर उसे इस रचना का नायकत्व प्रदान करने का आकांक्षी रहा है। 'जय-विजय' में हेमचन्द्र के अलावा और भी कई पात्रों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अपनी छोटी-छोटी भूमिकाओं के द्वारा कथा को प्रभावित किया है। शेरशाह सूरी, सलीमशाह, मुबारक खाँ, दरिया खाँ, ईसा खाँ, नरेश कीर्तिसिंह, आदिल खाँ, शम्स खाँ, फिरोज खाँ, मुहम्मद खाँ, फरमुल्ली, सिकन्दर, बैरम खाँ, बाबर आदि। परन्तु इनमें से हेमू को ही उपन्यासकार ने 'नायक' की संज्ञा प्रदान की है।

हेमू एक सामान्य बनिए का बेटा था, जो कालान्तर में अपने श्रम और सेवा के बल पर शूर वंश का सेनापति बना और अपने बौद्धिक कौशल तथा पराक्रम के जोर पर उसने यश और वैभव अर्जित किया। हेमू बडा ही महत्वाकांक्षी था, एक सामान्य साहूकार का बेटा भी भारत का शासक बन सकता है, इस तथ्य को अपने पराक्रम के बल पर साबित कर दिखाया। अक्सर जन सामान्य का यह विश्वास होता है, कि क्षत्रिय वंश में जन्मा व्यक्ति ही शासन की बागडोर संभाल सकता है, किन्तु यह तथ्य हेमू के चरित्र के द्वारा असत्य सिद्ध होता है और यह बोध सशक्त रुप में हमारे सामने प्रकट हुए बिना नहीं रहता, कि यदि आकांक्षा है, श्रम में विश्वास है, धैर्य है, लगन व साहस है, तो प्रतिकूल परिस्थितियों को भी अनुकूलता में ढालकर मनोकांक्षा पूर्ण की जा सकती है। बौद्धिक कौशल, अदम्य साहस और पर्याप्त सतर्कता ने हेमू को ज़मीन के जर्रे से आकाश का आफताब बना दिया। धरती पर चलने वाला व्यक्ति भी शासनाकाश को स्पर्श कर सकता है, यह बात हेमू ने अपने जीवन में प्रामाणित कर दिखाया।

पानीपत का द्वितीय युद्ध हेमू के जीवनकाल की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना है, यह अफगान शक्ति और मुगल शक्ति के पुनर्निर्माण का निर्णायक युद्ध माना गया है। अफगान शक्ति का संचालक हेमू था, और मुगल शासन की बागडोर बैरम खाँ ने सँभाली थी। किन्तु यह युद्ध हेमू और अकवर के मध्य हुआ था, जो भारतीय इतिहास का आज भी गौरवपूर्ण पृष्ठ है। व्यक्ति की छोटी-सी भूल भी संपूर्ण उपलब्धियों को भस्मीभूत कर सकती है। पानीपत के युद्ध के दौरान विजयोन्माद की मनःस्थिति में शत्रु की सेना के मध्य तीव्रता से फँसते हुए हेमु घायल हो जाता है और वंदी बना लिया जाता है। बैरम खाँ हेमू का सिर धड़ से अलग कर देता है, इस तरह हेमू की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। इस प्रकार लेखक ने हेमू के चरित्र द्वारा तमाम गतिविधियों को चित्रित किया है।

सत्ता और संघर्ष :-

'सत्ता और संघर्ष' 17वीं शताब्दी के मध्यकाल की राजनीति प्रधान जीवन से जुड़ी रचना है। ऐतिहासिक उपन्यास होने के कारण लेखक ने राजनीतिक घटनाओं को विशेष महत्व दिया है। भारत में मुगल सत्ता के जिस सुदूरव्यापी वृक्ष को बाबर ने अपने अद्भुत शौर्य और अटूट धैर्य से रोपा था, परंतु औरंगजेब के अमानुषीय अत्याचारों, जघन्य अपराधों ने उसकी जड़ों को खोखला बना दिया। बहादुरशाह का अन्त होते ही एक ऐसे युग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे भारतीय इतिहास में सम्राट निर्माताओं का युग कहा गया। इस काल के सम्राट इतने विलासी, शक्तिहीन और अकर्मण्य हुए कि अपने मंत्रियों के ही सदा कृपाकांक्षी बने रहे। सैय्यद वन्धुओं की मदद से ही बादशाह सिंहासिनारुढ़ होते थे, और फिर जाल में फँसकर अकाल काल कलवित हो जाते थे। लेखक ने सैय्यद बन्धुओं पर ही इस उपन्यास का कथा-संयोजन किया है। इस रचना के मुख्य पात्रों में इन्हीं दोनों की महत्ता अधिक रही है।

सैय्यद अब्दुल्ला खाँ बड़ा भाई था, और सैय्यद हुसैन अली छोटा। सैय्यद अब्दुल्ला खाँ कुशल राजनीतिज्ञ दूरदर्शी, अवसरवादी षडयंत्रों और सन्धियों में परम प्रवीण था, जबकि सैय्यद हुसैन दुर्घार्ष योद्धा मात्र था। वे दोनों एक-दूसरे के पूरक थे। इन दोनों की सम्मिलित शक्ति ने उत्तरकाल के मुगल बादशाहों को गद्दी पर बैठाया और उतार भी दिया। इन्हें सम्राट-निर्माता भी कहा जाता था, ये दोनों 'सैय्यद वन्धु' के नाम से प्रसिद्ध थे। अब्दुल्ला खाँ दुरभि-सन्धियों के अभिसर्ग में परम प्रवीण था। इनके चरित्रों को ध्यान में रखकर लेखक ने एक गर्वोक्ति भी प्रस्तुत की है, जो काफी प्रसिद्ध थी - "जिसके सिर पर जूता रख दूँ, वही बादशाह बन जाए।" दोनों परस्पर विरोधी गुणों के भंडार थे, किन्तु एक-दूसरे के पूरक बनकर उन्होंने फर्रुखसियर, रफी उद्दजति, रफीउद्दौला, इब्राहिम और रोशन अख्तर को जो इतिहास में 'मुहम्मदशाह' के नाम से प्रसिद्ध है, मुगल सम्राटों के रुप में बनाया-बिगाड़ा। दोनों भाई जब तक दो शरीर, एक प्राण रहे, तव तक मुगल शक्ति उनके हाथों का खिलौना रही, किन्तु जैसे ही दोनों सत्ता के लिए

परस्पर संघर्ष रत हुए वैसे ही उनका पतन प्रारम्भ हो गया और विरोधियों के षडयंत्रों के शिकार बन गए।"[4]

सत्ता के पीछे संघर्ष ही इस रचना का प्राण-तत्व है। संघर्ष से पहले जो अपने लगते हैं, संघर्ष के पश्चात् वे ही इतने पराए प्रतीत होने लगते हैं कि रक्त की प्यास बुझाने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं।

दुरभि-सन्धि :

'दुरभि-सन्धि' डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी की चरित्र-प्रधान रचना है। इसका केन्द्रिय चरित्र 'छत्रसाल' है। अठारहवीं शताब्दी के शासक छत्रसाल के जीवन-चरित्र की विशेषताओं, उनकी इतिहास सम्मत घटनाओं व विचारों को लेकर इस उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है। कई पात्रों के संयोजन के कारण भी छत्रसाल ही मुख्य रुप से उभरकर सामने आते हैं।

छत्रसाल की भारतीय इतिहास के अप्रतिम वीरों, अनुपम, साहसी और साधारण, त्यागी इतिहास-पुरुषों में गणना की जाती है। छत्रसाल के जीवनकाल के दौरान भारत शत्-प्रतिशत मुगलों के हाथ में था। छत्रसाल अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर एक सामान्य प्रकार के अनाथ पुत्र के विशाल भूखंड के स्वामी बन सके। वे मूलतः वीर स्वभाव के सफल सेनानी भी थे, कविता और संगीत-नृत्य आदि के प्रति उनकी अभिरुचि भी कम न थी। छत्रसाल एक सजग और कुशल शासक ही न थे, वरन् कुटनीतिज्ञ भी थे। दृढ़व्रती होने के साथ-साथ वह पराक्रमी भी थे। पग-पग पर सतर्कता ने उनके जीवन को सफल बनाया, किन्तु संगठन दृष्टि पर्याप्त मात्रा में न होने के कारण उन्हें बार-बार अपने जीवन में असफलताओं का भी सामना करना पड़ा, विदेशी शत्रुओं से उनका टकराव कई बार हुआ। शेर अफगन जैसे प्रतिद्वंदी को भी छत्रसाल ने ही समाप्त कर दिया था, बंगश और छत्रसाल के बीच हुई सन्धियों के कारण

लेखक ने इस रचना का नाम भी 'दुरभि-सन्धि' रखा। अस्सी वर्ष की अवस्था में भी छत्रसाल सक्रिय बने रहे।

छत्रसाल जिस समाज की देन थे, उनका सामाजिक स्वरुप भी उसी रुप में ढल गया था, वह समाज प्रेम, स्नेह, सेवा, दया, सहिष्णुता आदि गुणों से परिपूर्ण था। अठारवीं शताब्दी में भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, राज्य पृथक अस्तित्व का दावा किया करते थे। ईर्ष्या-द्वेष की भावना के कारण वे आपस में टकराया करते थे। टकराहट सदा विनाशकारी होती है, जिसके परिणामस्वरुप रक्तपात सम्भव हो जाता है। छत्रसाल के जीवन के क्रियाकलाप मात्र बुन्देलखंड क्षेत्र तक ही सीमित थे, परंतु उनकी मातृभूमि के प्रति भक्ति-भावना कम न थी, अपने सहयोगियों तक पर दुःख कातर भाव से आन्दोलित रहते थे। छत्रसाल अपने सहयोगियों को हर वक्त शत्रु पक्ष से सचेत होकर रहने की ओर ध्यान आकर्षित किया करते थे। लेखक एक स्थान पर संवादों द्वारा छत्रसाल के सजग होने का प्रमाण देते हुए कहते हैं कि - "जीवन एक समझौता है। प्रत्येक प्राणी को किसी-न-किसी रुप में समझौता करना पड़ता है। परिस्थितियाँ कभी अपने साथ समझौता करने को बाध्य करती है, तो कभी दूसरों के साथ। आप लोग कह सकते हैं, कि वीर प्राणी परिस्थितियों का वशीभूत कभी नहीं होता। परिस्थितियाँ उसकी अनुगामिनी होती हैं। वह परिस्थितियों का स्वामी होता है, उन्हें जन्म देकर परिवर्तित रुप प्रदान करता है और अनुकूल बनने के लिए बाध्य करता है; किन्तु, क्या कभी इस पर विचार किया है कि परिस्थितियों से टकराने और उनके साथ समझौता न करने में व्यक्ति को कितनी शक्ति का अपव्यय करना पडता है। प्रतिरोध में वह शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती, जिससे व्यक्ति वर्तमान को ही अपने अनुकूल नहीं बनाता बल्कि भावी पीढ़ी को सुख-समृद्धि के लिए वातावरण भी निर्मित कर जाता है। हमारा विगत इतिहास ऐसे अनेक महापुरुषों के जीवन-कार्यों का साक्षी है, जिन्होंने परिस्थितियों के सामने घुटने तो नहीं टेके किन्तु अपने उत्तराधिकारियों को कष्ट, द्वेष, कटुता, वैमनस्य, उत्पीड़न और विनाश आदि ही उपलब्धियों के

रुप में दे गए। स्वयं दृढता के लिए भले ही अविस्मरणीय बन गए हों, किन्तु पराधीनता के जो वीज वे वो गए, उन्हीं का परिणाम हमारा वर्तमान जीवन है। आज हम हर दृष्टि से असमर्थ हैं। विदेशियों के कृपाकांक्षी बनने में अपना कल्याण समझते हैं। विधर्मियों की कृपादृष्टि का पात्र बनना सौभाग्य का प्रतीक समझा जाता है। विनाशकों के संकेत पर आचरण करने में भारतवासी गर्व अनुभव करता है। उनका प्रत्येक कार्य, व्यवहार, आचरण तथा विचार तक अनुकरण की वस्तु बनता जा रहा है। क्या यह स्थिति चिन्तन्य नहीं है? क्या ऐसी स्थिति में सम्मानपूर्ण जीवन संभव है ? क्या परम्परागत विचारों से अनुप्राणित होना हितकर होगा? क्या वर्तमान अवस्था के सन्दर्भ में, पुनर्विचार आवश्यक नहीं है?"[5]

छत्रसाल के भीतर स्वकर्त्तव्य की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी, लेखक ने एक स्थान पर उनकी इस भावना को संवादो संवादों द्वारा चित्रित किया है - "स्वकर्त्तव्य के प्रति इस सीमा तक सजग प्राणी को किसी की कृपादृष्टि की आवश्यकता नहीं होती। उसकी क्षमताएँ और उपलब्धियाँ स्वतः स्वत्वसम्पन्नता की उद्घोषणा करती हैं। शक्ति किसी के देने या छीनने से प्राप्त नहीं होती, वास्तव में कर्त्तव्य पालन का परिणाम ही शक्ति है। कर्त्तव्य के प्रति आप जितने सजग रहेंगे, शक्ति-सम्पन्नता भी उतना ही आपका वरण करेगी।"[6] महाकवि भूषण भी छत्रसाल के स्वभाव से भली-भाँति परिचित थे, उनको सम्बोधित करते हुए कहते हैं - "आपकी अखण्ड कीर्ति दिगदिगंत तक व्याप्त है। यशपताका कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कामरुप से पेशावर तक फहरा रही है। भारताकाश में महाराज शिवाजी और महाराज छत्रसाल रवि-शशि की भाँति जाज्वल्यमान हैं। विधर्मियों के अत्याचारजन्य तम को विदीर्ण कर सुधावृष्टि करने वाले महाराज आप ही तो हैं।"[7] कवि भूषण ने अपने काव्य के द्वारा महाराज छत्रसाल के चरित्र की प्रशंसा करते हुए भी कहा है -

"नाती को हाती दियों जा पै दुरकत टाल ।
साहू के जस कलस पर, धुज बाँधी छत्रसाल ।।

राजत अखण्ड तेज छाजत सुजस बडो,

गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को ।।

जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत,

ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को ।।

साजि साजि गज तुरी पैदरि कतार दीन्हैं,

भूपन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को?

और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,

साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ।।"[8]

उपन्यासकार ने छत्रसाल की जीवन गतिविधियों के चित्रण द्वारा इस चेतना को जागृत करने की कुशल चेष्टा की है, कि जीवन में सजगता एवं सक्रियता वर्णित होती है, निराले स्वभाव से गतिमान होकर विवेक का सहारा पकडकर और पराक्रम का आश्रय ग्रहण कर जिस गति विशेषताओं को समय की धारा के साथ-साथ प्रवाहित किया जाता है, वह उपलब्धियों की हरीतिमा को दृश्यमान करती है। अन्त में, लेखक अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहता कि छत्रसाल का जीवन चरित्र जितना अठारहवीं शताब्दी में उत्प्रेरक था, उतना ही आज भी सम्प्रेरक है।

एक और बेगम :

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी द्वारा लिखित 'एक और बेगम' भारतीय मुगल कालीन इतिहास पर आधारित एक ऐसी रचना है, जो इतिहास रस की सशक्त अभिव्यक्ति का अनूठा नमूना माना जा सकता है। इस रचना में लेखक ने कई पात्रों का उल्लेख किया है, जैसे - जहाँगीर, शेर अफगन, वहीदा, शहरयार आदि। परन्तु इनकी भूमिका इस रचना में एक अलग-सा वातावरण

जरुर लाती है, किन्तु इस रचना का केन्द्रिय व्यक्तित्व लेखक ने 'नूरजहाँ' को माना है। नूरजहां का दूसरा नाम अनारकली भी था, जो ऐतिहासिक वातावरण में अनैतिहासिक माना जाता है, किन्तु इस चरित्र को इतनी अधिक विश्वसनीयता प्राप्त हुई कि वह इतिहास-प्रसिद्ध चरित्रों में कम महत्वपूर्ण नहीं है। नूरजहाँ ने संगीत और नृत्यकला में इतनी निपुणता हासिल की थी, कि जिसके कारण सम्राट अकबर ने उसे 'अनारकली' की उपाधि की संज्ञा दी थी। नूरजहाँ के अप्रतिम सौन्दर्य ने शाहजादा सलीम को इस सीमा तक प्रभावित किया कि वह भारत के भावी सम्राट की प्रेमिका तक बन गई। सम्राट अकबर को वह मुगलिया सल्तनत के लिए भारी खतरा प्रतीत हुई। जिसके कारण उसका ब्याह जबरदस्ती शेर अफगन से करवाया गया, वह उसके लड़की की माँ भी बनी, जो आगे चलकर शहरयार के साथ ब्याही गई।

सम्राट जहाँगीर ने शेर अफगन को समाप्त कर नूरजहाँ को वापस पा लिया। परन्तु नूरजहाँ कभी प्रतिशोधान्दोलित होती थी, तो कभी अनारकली के रुप में प्रेम और त्याग का रुप प्रदर्शित करती थी। शहजादा सलीम अनारकली के इन दोनों रुपों के जाल में ऐसा उलझा कि उसका शासक रुप ही विघटित हो गया। नूरजहाँ जहाँगीर की पत्नी बनकर नहीं रही, बल्कि मुगल शासन की संचालिका भी बन कर राज्य का कार्यभार सम्भालती रही। मन में बदले की भावना होने के कारण उसने जहाँगीर को कभी अपने पति के रुप में स्वीकार नहीं किया।

लेखक ने उसके चरित्र के बारे में स्वयं स्वीकारा है, कि नूरजहाँ ऐतिहासिक नाम अवश्य है, किन्तु घृणित और निन्दित है, परन्तु इतिहास में सुरक्षित है, और अनारकली को तो अमरत्व प्राप्त है, उस निस्वार्थ प्रेम के कारण जिसे उसने अपने जीवन अवधि का आदि और अन्त माना।

महाराज :

डॉ. त्रिपाठी द्वारा रचित 'महाराज' की कथा ऐतिहासिक है, और इतिहास के केन्द्रीय चरित्र है - 'महाराज हर्ष'। इस रचना में उनकी विविध भूमिकाओं को अलग-अलग रूपों में चित्रित किया गया है। जैसे - सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि।

महाराज हर्ष श्रम, संयम और समय के सदुपयोग के पक्षधर माने जाते थे। शस्त्र संचालन, कौशल अर्जित करने में मंगलदेव नामक व्यक्ति का उन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था। महाराज हर्ष सैनिकों की भर्ती तक स्वयं देखा करते थे। शान्ति से की गई आत्महत्या से वे हिल उठते थे। सम्राट हर्ष आखेट प्रिय भी कम न थे। वे जितने बड़े पराक्रमी थे, उससे कम विनय संपन्न भी न थे। डकैत तक महाराज हर्ष की शरण में समर्पित हो धनराशि समर्पित किया करते थे। उनके पराक्रम को लेखक ने किसी के कंठस्वर से महाराज के प्रति अभिमान का आभास भी प्रकट करवाया है, और साथ ही सगर्व घोषणा करते हुए इस बात को संवादों द्वारा उद्घोषित भी किया है। जैसे - "हमारे महाराज जी के सामने कोई भी राजा टिक नहीं सका है। जिसने भी सुना कि महाराज जी आ रहे हैं, राज्य छोड़कर भाग खड़ा हुआ। हमारे सैनिकों ने ऐसे राज्यों के कोषों को डटकर लूटा है। महाराज जी अपने साथ अतुल सम्पत्ति लाए हैं। थानेश्वर का राज्यकोष अब कुबेर के कोष से भी बढकर हो जाएगा..... किसमें साहस है, जो हमारे देवता स्वरुप महाराज जी की ओर दृष्टि उठाकर देख भी सके। कितना तेजस्वी स्वरुप है, हमारे महाराज जी का। इस स्वरुप के दर्शन मात्र से जन्म-जन्म के पाप कट जाते हैं। बड़े ही भाग्यवान को ऐसे स्वरुप के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होता है। मेरी तो जन्म-जन्म की साध पूरी हो गई। जय हो महाराज जी की।"[9]

महाराज हर्ष को राजप्रासाद की सुविधा और शिविर के कष्टमय जीवन में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता था। सम्राट हर्ष अविवाहित थे, किन्तु ऐश्वर्य-सुख भोग से वे वंचित नहीं रहते

थे। सुन्दर स्त्री के दर्शन मात्र से उनमें विलासिता जागृत हो जाती थी। हर्ष के इसी विलासी प्रवृत्ति को लेखक ने एक स्थान पर स्पष्टता प्रदान की है, जैसे - "इसके शरीर में लोच तो इतनी है, जैसे अस्थियाँ इसके शरीर में हैं ही नहीं। यह स्वयं अपने जिस अंग को जहाँ से चाहती है, मोड़ लेती है। मगर दूसरे के स्पर्श से इसके वही अंग वज्र की भाँति कठोर बन जाते हैं। इसकी शक्ति से अप्रभावित रहने के लिए इसके शरीर के दो अंगों को एक साथ स्पर्श करना होगा..... उर्वशी निकट आओ। अपने दोनों हाथ एक साथ मेरे हाथों में दो। मेरे दोनों हाथ फैल चुके थे। उर्वशी अबोध बालिका-सी थी। उसने अपने दोनों हाथ मेरे हाथों में रख दिए। कहीं किसी शक्ति का आभास मुझे नहीं हुआ, वह मुझे सामान्य नारी-स्त्री प्रतीत हुई। मैंने उसे अपनी ओर खींचा और कुंती से जानना चाहा, 'इसके सभी अंगों को दुहरा स्पर्श चाहिए?' .... शारीरिक सानिध्य के पश्चात् यह आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है। उर्वशी सामान्य नारी है, महाराज जी, किन्तु अत्याचारी के लिए यह चंडी है। इसकी नारी सुलभ कोमलता का कोई भी अपरिचित, कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, अनुचित लाभ नहीं उठा सकता है.... उर्वशी का चुनौती भरा शारीरिक सौन्दर्य मेरी बाहों में सिमट आया था। मैंने अनुभव किया कि उर्वशी का शरीर वास्तव में अस्थिविहिन-सा था। परीक्षण के तौर पर मैंने उसके शरीर को अनेक कोणों से दबाने या मोड़ने की चेष्टा की और मनोनुकूल उसके अंग वैसे ही ढल गए। ज्यों-ज्यों सफलता मिलती गई, त्यों-त्यों मैं उसे समेटता गया। अन्ततोगत्वा उसके सम्पूर्ण शरीर ने एक ऐसी गठरी का आकार ग्रहण कर लिया जिसमें अस्थि की अनुभूति असम्भव थी। सहसा मैंने उसे बंधनमुक्त किया तो वह सामान्य नारी बन गई..... उस विश्रामकक्ष में मैं था और मेरी बाँहों में थी उर्वशी। उर्वशी भी उर में बसने के लिए व्याकुल हो उठी थी। उसकी उस व्याकुलता का मेरे पौरुष में वरण किया।"[10]

व्यक्ति चाहे सम्राट हो, शासक हो या सैनिक होता तो एक सामाजिक प्राणी ही है। सम्राट हर्ष अभावग्रस्त प्राणियों के प्रति बहुत संवेदनशील रहते थे। त्याग में उनका विश्वास

काफी दृढ़ था। वह प्रत्यक्षदर्शी ही नहीं थे, कभी-कभी तो उनमें अभिज्ञता की अनुभूति भी होने लगती थी। सम्राट हर्ष का हृदय औदार्य से भरा हुआ था, वह जनसामान्य के प्रति भी यही भाव प्रकट किया करते थे, सम्राट हर्ष कर्त्तव्य-प्रधान धार्मिक दृष्टि को किसी पर थोपते नहीं थे, और न ही अपने धार्मिक विश्वास के अनुरुप आचरण करने के लिए किसी को विवश ही किया करते थे। प्रत्येक अभियान के दौरान वे अपने शासनाधिकारी, सैनिकों व सहयोगियों के साथ मिलकर विचार-विमर्श किया करते थे, प्रत्येक व्यक्ति की राय उनकी नज़र में महत्व रखती थी। लेखक ने उनके इस मिलनसार व्यक्तित्व को एक संवाद द्वारा अभिव्यक्त किया है। जैसे - "विचार तो यही है कि भारत के अखण्ड रुप के दर्शन करूँ, किन्तु यह विचार है। इसका कार्यान्वयन उतना ही कठिन है। आप लोग तो जानते ही हैं कि कठिन कार्य करने में ही मुझे आनन्द आता है। छोटी-मोटी विजयों में मेरी कोई रुचि नहीं है। फिर भी दिग्विजय अभियान के मध्य जो भी व्यवधान आएँगे, वे चाहे छोटे हों या बड़े, उनका समूल उन्मूलन किया ही जाएगा। मेरा विश्वास है कि जिन शासकों में तनिक भी विचार-शक्ति होगी, वे संघर्ष का मार्ग नहीं अपनाएँगे और जो दुष्ट प्रकृति के दम्भी शासक होंगे, वे रक्तपात के बिना मानेंगे नहीं। जो भी स्थितियाँ सामने आएँगी, आप लोगों की शुभकामनाएँ उन पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करेंगी। इसी विश्वास के बल पर इस अभियान का श्रीगणेश करने जा रहे हैं।"[11]

सम्राट हर्ष के आचरण द्वारा यह सिद्ध होता है, कि सुख भोग में नहीं त्याग में है। भोग के सुख से त्याग का आनंद श्रेष्ठ होता है, यह बात सत्य साबित होती है, कि महाराज हर्ष ने संगम तट पर अपनी बहन को सर्वस्व दान करने के पश्चात् पहनने के लिए वस्त्र माँगे थे। सम्राट हर्ष की इसी त्याग भावना और विनय सम्पन्नता से प्रभावित होकर चीनी यात्री ह्वेन सांग ने उनकी प्रशंसा में अपने विचारों को प्रकट करते हुए कहा है कि - "महाराज जी! आपके दर्शनों का मैं अभिलाषी था, दर्शन प्राप्त हो गए, जीवन धन्य हो गया। अद्भुत है यह भारत देश। यहाँ आप जैसे अद्भुत पराक्रमी वीर भी हैं, और बोधिसत्व जैसे वीतरागी महात्मा भी।

मानव-जीवन के दो परस्पर विरोधी ध्रुवों का अनुपम संयोग इसी भारतभूमि में सम्भव है। परिग्रह अपरिग्रह के सम्मुख नतमस्तक हैं। कैसा विलक्षण दर्शन है। ऐसा दर्शन संतुलित जीवन के लिए परमावश्यक है। इस आवश्यकता पूर्ति के साक्षात् दर्शनों से मेरा जीवन धन्य है। मैं इस अविश्वसनीय संयोग-सत्ता के यथार्थ स्वरुप के समक्ष नतमस्तक हूँ।"[12] इस प्रकार 'महाराज' रचना में लेखक ने बड़ी कुशलता से सम्राट हर्ष के चरित्र को उजागर किया है।

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी ने ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ सामाजिक उपन्यासों की भी रचना की है। यूं तो कुछ चुनिन्दा उपन्यासों में ही उन्होंने पात्रों का चयन किया है, इसके अलावा उनकी कुछ रचनाएँ मनोवैज्ञानिकता का आधार लिए हुए हैं, और कुछ वैचारिक विवेचन का। उन्होंने इन वैचारिक विवेचनों के द्वारा आज के परिवेश को मद्देनजर रखते हुए अपने विचारों को स्वतंत्र रुप से स्पष्ट किया है, जिससे पाठकगण को भी संदेश प्राप्त होता है। दम्पत्ति, भ्रष्टाचार, शिकायत, पितामह आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं , जिनमें उन्होंने छोटी-छोटी बातों को एक बड़ा रुप दे दिया है। डॉ. त्रिपाठी की कुछ चुनिंदा सामाजिक उपन्यासों में चित्रित पात्रों की विविध भूमिकाओं का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है :-

फिलहाल :

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी की रचना 'फिलहाल' एक औपन्यासिक कृति है, जिसमें लेखक ने शिक्षा जगत् की समस्या को कथा का बिन्दु बनाया है। इस पूरी रचना में कथा-विस्तार के लिए लेखक ने कई पात्रों का चयन किया है, जिसमें गुरु जी, भावना, कुमार मोहन, निशा, देव आदि हैं। किन्तु देव इस रचना का मुख्य नायक है, जिसे लेखक ने इस रचना का केन्द्र बिन्दु माना है। देव एक मध्यम वर्गीय परिवार से जुड़ा हुआ है, जो नगर से विद्या-अध्ययन के लिए आता है। देव स्वाभिमानी, कर्त्तव्यनिष्ठ और आदर्शवादी है। अध्ययन के दौरान वह किसी का साथ पसंद नहीं करता था। इस रचना की नायिका भावना जो उसकी सहयोगी है, देव उससे भी दूरी

बनाए रखता है, परंतु भावना भी उससे कम आदर्श नारी नहीं है, दोनों का स्वाभिमान आपस में टकराता है, और दोनों की यह टकराहट उन्हें एक-दूसरे के प्रति आकर्षित करती है। देव अपनी लगन और कड़ी मेहनत से अच्छी शिक्षा ग्रहण करता है। गुरु जी इस संपूर्ण रचना में आदर्श गुरु का प्रतिनिधित्व करते हैं। देव कॉलेज में प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हो जाता है, और शैक्षिक वातावरण को विभागीय गतिविधियों और विचारों द्वारा सम्मूर्ति करता है। देव की जीवन दृष्टि गुरुजी के व्यक्ति सीमा तक इतनी प्रभावित होती है, कि वो अपनापन खो बैठता है, और वैचारिक विद्रोह का शिकार बन जाता है। देव गुरु जी की हर बात का, हर आदेश का पालन करता था।

भावना एक आदर्श, स्वाभिमानी और पत्नी धर्म का आचरण करने वाली नारी थी। देव से विवाह के पश्चात् वह अपने कर्त्तव्य का निर्वहण बड़ी कुशलता से किया करती थी। गुरु जी भावना को अपनी बेटी की तरह स्नेह करते थे। भावना भी कॉलेज में शिक्षिका के पद पर नियुक्त हो जाती है, किन्तु पत्नी के धर्म से तनिक भी विचलित नहीं होती। भावना का स्वाभिमान अक्सर देव के स्वाभिमान से टकराता रहता है। भावना कुलशील-सम्पन्न नारी थी, वह गुरु जी और देव दोनों की नज़रों में सम्मान-भाव की अधिकारिणी भी थी। जैसे-"यही ऑसू तो नारी के सौभाग्यवती होने के प्रमाण हैं। सर्वस्व त्याग कर नारी इन ऑसुओं को नेत्रों में धारण करना चाहती है। ये नारी की अमूल्य निधि हैं। आप इन्हें लुटाते रहें और मैं इन्हें बटोरती रहूँ। बस! जीवन की सार्थकता स्वयं सिद्ध है।"[13]

भावना को अपने दाम्पत्य-जीवन के प्रति भी अखंड विश्वास है। जैसे - "परस्पर विश्वास ही हमारे दाम्पत्य जीवन की वह शक्ति है, जिससे हम आजीवन जुडे रहेंगे, हम अंतिम सॉस तक विलग न होंगे, न शरीर से, न मन से, न प्राण से।"[14]

उपेक्षिता :

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी द्वारा विरचित यह रचना सामाजिक विषय पर आधारित है। सामाजिक कथा के द्वारा डॉ. त्रिपाठी यथार्थ को उद्घाटित करते हुए कहते हैं - "जीवन एक समझौता है। यह समझौता परिस्थितियों के साथ होता है, सफलताओं-विफलताओं के साथ होता है, सगे-सम्बन्धियों के साथ होता है, और उनके साथ होता है, जो हमारे सर्वस्व समर्पण के आधार होते हैं। यही समझौता जब किसी कारणवश भंग होता है, तो व्यक्ति टूटता है, बिखर जाता है। यदि भाग्यवश वह अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ होता है, तो अपने से समझौता करना प्रतीत होता है। अन्तर्मुखी दृष्टि उसे विगत जीवन के तटस्थ पर्यवेक्षण के लिए बाध्य करती है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति पर्यवेक्षण करता है, त्यों-त्यों उपेक्षित भावाचरणजन्य पश्चाताप से वह भर उठता है, और उपेक्षा का स्थान कर्त्तव्य-भावना ग्रहण कर लेती है।"[15]

वैसे, लेखक ने इस उपन्यास में मूल रुप से दाम्पत्य जीवन की अपेक्षाजन्य समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है। एक पिता द्वारा पुत्र के तिरस्कार को इस रचना का केन्द्र-बिन्दु माना है। इस रचना का नायक डॉ. कान्त है। जो एक कपर्त्तव्यनिष्ठ चिकित्सक होने के कारण अपने स्वधर्म में संलग्न रहता है , जिससे सफलताएँ उसके कदम चूमती है। जन-सामान्य तक डॉ.कांत की प्रसिद्धि से परिचित हैं। वह विमल बाबू का पुत्र है, किन्तु पारिवारिक झगड़ों और विवादों के कारण अपनी पत्नी के साथ उनसे अलग रहता है। डॉ. कांत की सहानुभूतिपूर्ण भावना के कारण वह गरीबों का मसीहा भी माना जाता है। विमला डॉ. कांत की माँ है, अपने छोटे बेटे को लेकर आती है, जो कि बहुत बिमार है, परन्तु डॉ.कान्त की पत्नी शीला से उसके सम्बन्ध अच्छे न होने के कारण दोनों में वाद-विवाद हो जाता है, जिसके कारण डॉ.कांत का छोटा भाई निर्जीव हो जाता है।

इस उपन्यास की नायिका डॉ. कान्त की पत्नी शीला है। शीला के रुप में उपेक्षिता

नारी कुछ ऐसी मनःस्थिति का शिकार है, और जीवन की ऐसी विषमताओं का उसे सामना करना पड़ता है, जो कि स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए घातक सिद्ध होती हैं। शीला डॉ. कांत के अलावा दूसरे व्यक्ति से अवैध सम्बन्ध स्थापित करती है, इस पर डॉ.कांत उसे डाँटते हैं, गालियाँ देते हैं आदि-आदि।

लेखक ने एक स्थान पर इसे संवाद के द्वारा अभिव्यक्त करने की कोशिश की है, कि यदि शादी-शुदा मर्द किसी दूसरी औरत के प्रेमजाल में फँस सकता है, तो क्या ब्याहता स्त्री दूसरे पुरुष से सम्बन्ध नहीं रख सकती। डॉ. कान्त के स्वयं धन्नौ नामक ग्रामीण महिला से सम्बन्ध थे, परन्तु शीला के इन सम्बन्धों को जानने के पश्चात् वह उसे डॉटते हैं, फटकारते हैं। शीला डॉ. कांत के कहे गए शब्दों का विरोध प्रकट करते हुए कहती है - "उसी प्यार में भूलने का परिणाम तो भुगत रही हूँ। एक बार दूध का जला इन्सान मट्ठा भी फूँक-फूँक कर पीता है। यही घटना मुझे उनसे सतर्क रखने के लिए यथेष्ट है। मुझे बिल्कुल गँवार देहातिन ही समझ रखा है। वह समझते हैं, कि मैं कुछ समझती ही नहीं। अब तक वह मन-मानी करते रहे। मैंने उनके किसी भी कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया, लेकिन अब उन्हें पता चल जाएगा कि मैं भी कुछ हुँ..... मेरी शक्ति को उन्होंने पहचाना ही नहीं है। मैं क्या कर सकती हूँ - इसका उन्हें ज्ञान नहीं है। मुझे निरीह, अबोध, अबला समझकर मुझ पर अभी तक अत्याचार करते रहे। मैंने सब कुछ मौन होकर सहा, लेकिन अब ज्वालामुखी के फटने का समय आ गया है।"[16]

शीला में आत्मनिर्भरता बहुत है, वह तैल-चित्रों का निर्माण करती है, और कला-प्रतियोगिता में हिस्सा लेकर इनाम भी जीतती है। एक अच्छी कलाकार होने के कारण, वह अपना छोटा-मोटा व्यवसाय भी करती है, लेखक उसकी आत्मनिर्भरता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं - "आत्मनिर्भर तो हर प्राणी को होना चाहिए। इसी आत्मनिर्भरता के अभाव में पुरुषजाति ने स्त्रीजाति पर क्या-क्या अत्याचार नहीं किए हैं, और आज भी करता जा रहा है।

स्त्री को पुरुष के आधीन रहना पडता है, उसकी हर उचित-अनुचित आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है। पुरुष के संकेत पर स्त्री जाति सदैव नाची है। क्यों? अपनी इसी आत्मनिर्भरता के अभाव के कारण। आज विदेशों में स्त्रियों को देखिए। क्या हमारे देश की स्त्रियों की भाँति वे भी पुरुषों की अनुगामिनी हैं? क्या उन्हें हर काम पति की रुचि के अनुकूल ही करना पड़ता है? क्या उन्हें अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए पुरुष के मुँह की ओर ताकना पड़ता है? यदि आज आप भी आत्मनिर्भर होतीं, तो इस प्रकार अपमानित न होना पड़ता..... पुरुषजाति ने सामाजिक ढाँचा ही ऐसा बना रखा है कि स्त्रीजाति को अवसर ही नहीं मिलने पाता किसी कला अथवा उद्योग के सीखने का। वह तो हर प्रकार से स्त्री को पंगु बनाए रखना चाहता है। वह कभी नहीं चाहता कि स्त्रियाँ अपने पैरों पर खड़ी हों, वह आत्मनिर्भर बनें और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलें।"[17]

शीला अपनी सास से कड़ा रुख अपनाती है, उनके बीच अक्सर वाद-विवाद होते ही रहते हैं। कहते हैं - 'सुबह का भूला शाम को घर लौट आए तो उसे भूला नहीं कहा जाता' - उसी प्रकार शीला और डॉ.कांत के बीच पनप रही दूरियाँ समाप्त हो जाती हैं। वह सारी वैमनस्यता और ईर्ष्या आदि भावनाओं को खत्म करके माता-पिता के साथ मिल-जुलकर रहने लगता है। शीला और डॉ.कांत का यह मिलन उस हादसे के उपरांत होता है, जिसमें उसका मूल्य भाई के प्राणों से चुकाया गया होता है। परंतु इस प्राण-मूल्य से वह सही दिशा की ओर अग्रसर हो जाते हैं। उनके पुनर्मिलन से लेखक यह सिद्ध करने की सफल चेष्टा करते हुए कहता है - "सदा सुख-दुःख में साथ रहना। सम्पत्ति-विपत्ति के क्षणों का सम्मिलित रुप से सामना करना दाम्पत्य-जीवन सौख्य का आधार है।"[18]

कैसा दोराहा :

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी की यह रचना 'कैसा दोराहा' जीवन के दोराहे पर खड़ी उस

दुविधाग्रस्त नारी का संश्लिष्ट चित्र है, जो भुक्त-भोगी होकर भी यह समझ पाने में असमर्थ है, कि यह दोराहा कैसा है। सुख-दुःख के पाटों के बीच पिसती हुई नारी के जीवन की यह व्यथामयी कथा है। डॉ. त्रिपाठी की यह रचना चरित्र-प्रधान रचना है, जिसके केन्द्र में इस रचना की नायिका 'दिशा' है। लेखक ने इस नारी की व्यथामयी कथा को यहाँ चित्रित किया है।

'दिशा' एक स्वच्छन्द विचारों वाली लड़की है, कॉलेज की पढ़ाई में व्यस्त रहनेवाली, माता-पिता की आज्ञा का पालन करने वाली। दिशा के लिए विवाह का प्रस्ताव आता है, परंतु माता-पिता का घर छोड़कर दूसरे का घर बसाने के लिए वह मन से तैयार नहीं होती। उसे अपने माता-पिता का घर छोड़ने का बिछोह भी है। परंतु उसके पिता जीवन की सच्चाइयों को समझाने का यत्न करते हैं, और इस प्रस्ताव को अपनाने के लिए बाध्य करते हुए कहते हैं - "तुम्हारी जैसी पितृभक्त बेटी होने पर मुझे गर्व है। तुम्हारी उपस्थिति से मैं आश्वस्त रहता हूँ कि सम्बन्धों में कटाव और अधिक नहीं बढ़ेगा, बल्कि समय के साथ-साथ सामान्य गति से शेष जीवन कट जाएगा। किन्तु मेरे या माँ के बाद क्या होगा। तुम्हारे जीवन की अभी शुरुआत है। जीने के लिए काफी लम्बा जीवन है। हम दोनों तो लड़-झगड़कर किसी-न-किसी तरह जीवन काट ही लेंगे या सम्भव है, कोई स्थिति ऐसी भी आ जाए जब एक-दूसरे को समझना प्रारम्भ कर दें। सब नासमझी का परिणाम है। समझदार हम दूसरों के लिए होते हैं। अपने प्रति हम आजीवन नासमझ ही बने रहते हैं। यही नासमझी जीवन-भर नचाया करती है; करणीय-अकरणीय सब करवाती रहती है; निर्मिति को पुनर्निमिति में परिवर्तित किया करती है; संयोग में भी वियोग की अवस्था का आभार परिवर्तित कराती रहती है; सम्पन्नता के गले में विपन्नता की घंटी बाँधे रखती है;असामर्थ्य की अनुभूति द्वारा पग-पग पर सामर्थ्य के गर्व को धूल-धूसरित किया करती है; और निर्माण के साथ-साथ विनाशकारी लीलाओं का भी दिग्दर्शन कराती रहती है। समझदार कौन कितना है - इसका परीक्षण तो पग-पग पर हुआ करता है, किन्तु नासमझी का न तो कोई मापदंड होता है, और न इससे मुक्ति के उपाय हैं। एक और विचित्र बात इसके सम्बन्ध

में यह है कि नासमझी दूसरों को समझ में अधिक आती है, बल्कि यों समझ लें कि हर व्यक्ति दूसरे को नासमझ पहले समझता है, अपने से कम या अधिक समझदार बाद में। सारा विवाद या विग्रह नासमझी का परिणाम है। जिस पर बलिदान तुम्हें होना पड़ रहा है। ऐसा नहीं है, कि मैं तुम्हारे सम्बन्ध में कुछ सोचता-विचारता नहीं। यह सोच-विचार जहाँ मेरी शक्ति है, वहीं मेरी दुर्वलता भी है। यदि इस दुर्बलता का शिकार मैं न होता तो यह विवादग्रस्त दाम्पत्य-जीवन कभी का निर्णायक स्थिति में पहुँच गया होता, किन्तु कभी सोच का अनुकरण विचार करता है, तो कभी विचार का सोच। परस्पर टकराहट के क्षण आते हैं, और अन्दर से हिलाकर रख भी देते हैं, किन्तु लम्बी अवधि के लिए नहीं। कुछ क्षणों के बाद ही ये परस्पर समझौते का परिचय भी देने लगते हैं। यदि सोच-विचार की भाँति स्त्री-पुरुष भी परस्पर समझौते से अधिक काम लेना प्रारम्भ कर दें तो जीवन सामान्य रुप से गतिमान बना रह सकता है। किन्तु मनुष्य का अहम् ही उसे कहीं का नहीं रखता है। न वह इधर का रहता है, न उधर का। अकेले जी नहीं पाता है, और दूसरों का जीना भी हराम किए रहता है। अगर दुसरे के जीने को ही अपना जीना समझ लें तो समस्याएँ अस्तित्व में आने ही न पाएँ। परन्तु अफसोस कि समझदार मानव इतनी छोटी-सी वात को नहीं समझ पाता है और व्यर्थ के विवादों में ग्रस्त रहता है। बेटी, यदि दूसरे के जीने को ही अपना जीना समझने की क्षमता की अनुभूति अपने अंदर कर सको तो प्रस्ताव को अस्वीकार मत करो अन्यथा सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे किसी साधन से प्राप्त किया जा सकता है। कम-से-कम जो जीवन तुम देख रही हो, उससे तो अच्छा ही है अविवाहित बने रहना। जितना अच्छा है, उससे अधिक कठिन है। पूर्ण इकाई होकर भी मानव स्वभावतः पराश्रित होता है। यह पराश्रिता जहाँ उसे सामाजिक रुप प्रदान करती है, वहीं दुःखभरी परिस्थितियों का भी सृजन करती हैं। तुम्हारी माँ की जीवनानुभूति दुःखों के सृजन से अधिक निकट है। इसे ही इन्होंने सिद्धांत रुप में स्वीकार कर लिया है। दैनिक जीवन व्यापारों में भी ये इसी सिद्धान्त को सूत्र रुप में पकड़े हुए संतरण करती हुई प्रतीत होती है। तुम स्वयं कम समझदार नहीं हो। खूब सोच-विचार लो। हम लोगों की चिन्ता छोड़ो। हम लोग तो ऐसे ही

लडते-झगडते एक न एक दिन पार लग ही जायेंगे। हमारे बाद तुम्हारा क्या होगा - यह चिंता भी कभी-कभी अब जगाने लगी है। जीवन काटने के लिए कोई-न-कोई सहारा तो चाहिए ही। सहारे बिना विवाह के भी सम्भव है, किन्तु होते वे सब अस्थायी हैं। अस्थायित्व सदा आशंकित और चिंतित बनाए रखता है। आशंका और चिंतायुक्त जीवन और भी अधिक कष्टदायी होता है। कष्ट-मुक्ति के सारे प्रयास इसके समक्ष असफल सिद्ध होते हैं, और असफलता का वरण तो आत्महत्या के समान दुखदायी होता है।"[19]

दिशा अपने पिता के इस सिद्धांत को परवशता मानती है, क्योंकि वह स्वयं परवशता की विरोधिनी है, इसलिए वह ब्याह को स्त्री की स्वतंत्रता का हनन मानते हुए कहती है - "सामाजिक परम्पराएँ ही कुछ ऐसी हैं, जो स्त्री को पुरुष के समान नहीं रहने देतीं। उनका विरोध कम नहीं हुआ, किन्तु स्त्री की शारीरिक अक्षमता कुछ ऐसे आड़े आ जाती है कि सारा विद्रोह शक्तिविहीन बन जाता है। साथ ही यह ध्यान रखना भी आवश्यक है, कि न पुरुष सदा एक-सा रहता है, और न उसकी विचारधारा ही अपरिवर्तनीय बनी रहती है। क्योंकि जीवन का सत्य सर्वथा इसके विपरीत है। स्त्री पुरुष को जन्म देती है, पालती पोषती है, जीवन जगत में आजीवन पुरुष की सहचारिणी रहती है। किसी न किसी रुप में स्त्री पुरुष का सहारा बनी रहती है। स्त्री के बिना पुरुष का अस्तित्व संभव ही नहीं है। जिसके अस्तित्व का आधार ही स्त्री हो, उसे नियंत्रण में रखना कौन बड़ी बात है, किन्तु स्त्री भी भावावेश में आकर अपनी सीमा-रेखाओं का उल्लंघन कर जाती है। फिर वह भूल जाती है कि किससे क्या कह रही है। बस, शुरु हो जाती है क्रिया की प्रतिक्रिया और यह सिलसिला जब एक बार अस्तित्व में आ जाता है तो रोके नहीं रुकता। नैतिकता-अनैतिकता की सारी सीमाएँ रेखाएँ भंग हो जाती हैं। सामाजिक और पारिवारिक ही नहीं मानवता के सम्बन्ध तक क्रोध और प्रतिशोध की बलिवेदी पर न्योछावर हो जाते हैं। ऐसी मनःस्थिति में वैयक्तिक धारणाएँ शाश्वत सिद्धांत रुप में प्रकट होती हैं, - 'नारी पूजनीया होती है।', 'नारी का अनादर मानवता का अपमान है।','नारी की उपस्थिति सतयुग

का अवतरण है।', 'सहिष्णुता की प्रतीक नारी जब प्रतिशोध पर उतर आती है, तब मानवता का संहार हो जाता है।', 'नारी प्रेम, सेवा, त्याग और सहिष्णुता की प्रतीक होती है।', 'सम्पूर्ण मानवता का श्रृंगार होती है नारी।', 'नारी मात्र ममतामयी माँ ही नहीं होती है, दुर्गा और शक्ति का प्रतिरुप भी होती है।' ऐसे ही आदर्श वाक्य समय-समय पर दुहराए जाते हैं। इन्हीं के सहारे नारी शक्ति का परिचय दिया जाता है, और इन्हीं की आड़ में अपनी दुर्बलता को छुपाया जाता है, किन्तु कब तक किसका कहाँ तक छुपा रह सका है। अवसर आने पर सब प्रकट हो जाता है, और किए हुए का परिणाम सबको भोगना पड़ता है।"[20]

दिशा का विवाह उसके माता-पिता उसी की सहेली मंगला के भाई आनंद के साथ तय हो जाती है। किन्तु दिशा इस शादी से खुश नहीं होती, वह इस प्रस्ताव के समक्ष अपनी असहमति व्यक्त करती है। उसकी इस असहमति पर आनंद उसे शादी की महत्ता बतलाते हुए कहता है - "तर्क आपकी कुशाग्रबुद्धि का परिचायक है। आपके सम्बन्ध में मंगला का एक-एक शब्द अक्षरसः सत्य सिद्ध हो रहा है। यदि आपको प्रस्ताव के प्रति असहमति में ही खुशी है तो मैं आपके निर्णय का स्वागत करता हूँ और आपकी खुशी में ही अपनी खुशी मानता हूँ। आप खुश हैं और खुश रहें - इसके प्रतिकूल मेरा अभिप्रेत कभी हो ही नहीं सकता। किन्तु एक प्रश्न रह-रहकर मेरे मस्तिष्क को हिला-डुला रहा है। जैसा कि मुझे मंगला के द्वारा ज्ञात हुआ है कि शादी के प्रति आपकी अवधारणा के मूल में हैं आपकी माताजी। आपके माता-पिताजी के बीच सौमनस्य का अभाव है। यह स्थिति केवल शादी के कारण ही है - ऐसा आप क्यों सोचती हैं? क्या जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में दोनों ही लोग सौमनस्य स्थापित कर पाते हैं - इस पर भी कभी आपने विचार किया है? और जहाँ तक शादी को मात्र परतन्त्रता की बेड़ी के रुप में स्वीकारने की बात है तो स्थिति दोनों ओर लागू होती है। शादी नारी के लिए पराधीनता है तो पुरुष के लिए भी कम बन्धन नहीं है। शादी की सीमा रेखाओं में पुरुष भी बँधा रहता है। पुरुष दाम्पत्य जीवन की सीमा रेखा लांघकर केवल पत्नी को आहत कर सकता है, उसके वंश-परिवार

को नहीं, जबकि नारी यदि विद्रोह पर उतारु हो जाए तो पति के मान-सम्मान की धज्जी उड़ा सकती है। पारिवारिक प्रतिष्ठा को वह धूल में मिला सकती है। पति के चरित्र की हत्या पत्नी के एक संकेत पर संभव बन जाती है। पत्नी अपनी शक्ति से अनभिज्ञ है अथवा अपने अधिकार का प्रयोग नहीं करना चाहती है, और पति के अत्याचारों के समक्ष सिर झुकाती है - यह बात दूसरी है, किन्तु वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाए तो पति पत्नी की अपेक्षा अधिक परतन्त्र होता है। आजीवन वह पत्नी से इतना भयभीत रहता है कि कभी विपरीत आचरण का दुस्साहस नहीं जुट पाता है। ऊपर से हेकडी वह भले ही दिखा ले, अन्दर से वह पत्नी के समक्ष निरीह ही बना रहता है। शादी के बाद पत्नी अग्रगामी होती है, और पति होता है अनुगामी। परिणीता नारी का नाम सदा पुरुष के नाम के पूर्व लिया जाता है। जैसे - सीताराम, राधा-कृष्ण, गौरी शंकर, लक्ष्मीनारायण आदि। आगे वाले से पीछे वाला बँधा होता है या पीछे वाला आगे वाले से? गृहस्थी के बन्धन के अतिरिक्त पुरुष पत्नी का अतिरिक्त बन्धन भी आजीवन झेलता है? और फिर हम शादी को एक बन्धन के रुप में ही क्यों स्वीकार करते हैं? इसे समझौते के रुप में क्यों नहीं देखते हैं ? वस्तुतः है शादी एक स्त्री-पुरुष के बीच समझौता ही। यह समझौता मात्र शारीरिक ही नहीं, मानसिक और आत्मीय भी होता है। कुछ तो इसे दो आत्माओं का सम्मिलन तक मानते हैं, और इस सम्मिलन का आदर्श रुप है भगवान शंकर का अर्द्धनारीश्वर रुप। शादी के बाद स्त्री-पुरुष की इकाइयों की पृथकता और पूर्णता समाप्त हो जाती है। दो नहीं रहते, एक बन जाते हैं। एकाकार होने के बाद किसी भी प्रकार के विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता है। जहाँ एक का सुख-दुख दूसरे का सुख-दुख बन जाता है, वहाँ विग्रह की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होने पाती। अब प्रश्न उठता है कि जब एकाकी जीवन कट सकता है, तब शादी क्यों की जाए। इस सम्बन्ध में मेरा स्पष्ट मत है कि मानव प्रकृति से पराश्रित प्राणी है। जन्मकाल से लेकर मृत्यु पर्यन्त मानव पराश्रित ही रहता है। एकाकी जीवन काट पाना लगभग असंभव है। गृहस्थाश्रम से बढकर श्रेष्ठ आश्रय-स्थल दूसरा नहीं है, और यह गृहस्थजीवन शादी के बाद ही सम्भव है। जीवन में सर्वाधिक आवश्यकता होती है सुरक्षा की। सुरक्षा की जितनी गारंटी दाम्पत्य जीवन देता है, उतनी सुरक्षा जीवन की अन्य व्यवस्थाओं द्वारा असंभव है, और

फिर मनुष्य होने के नाते हमारा सामाजिक दायित्व भी कुछ होता है। जिस समाज ने हमें सामाजिक सुविधाओं से परिपूर्ण जीवन प्रदान किया, उसके संचालन और सम्वृद्धि का उत्तरदायित्व भी तो हम पर है और इस उत्तरदायित्व का निर्वाह शादी के पश्चात् ही सम्भव है। व्यक्ति के तीन रुप प्रमुख होते हैं - व्यक्ति, परिवार और समाज। व्यक्ति और उसके सामाजिक रुप को तो हम यथावत स्वीकार करते हैं, और मध्य पारिवारिक रुप की उपेक्षा करते हैं। यह कैसे संभव है। यदि व्यक्ति पारिवारिक रुप से मुँह मोड़ता है तो वह न व्यक्ति रह जाता है, और न सामाजिक ही। मात्र किन्हीं वैयक्तिक धारणाओं और सनकों के आधार पर शादी के महत्व को ही नकारना मेरी समझ में तो मात्र नादानी है। परिपक्व मस्तिष्क का व्यक्ति शादी को बन्धन के रुप में कभी नहीं लेता है, और फिर यदि बंधन ही है तो उस बन्धन का सुख भी अनोखा होता है, जिसकी अनुभूति से अविवाहित प्राणी वंचित रह जाता है। वैवाहिक जीवनसुख का आगार होता है; सेवा का आश्रम होता है; और शान्ति का विश्रामस्थल होता है, और फिर जैसी आपकी अवधारणा हो।"[21]

पत्नी धर्म का निर्वाह करते हुए वह अपने पति के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करती है। विवाहोपरांत उसे सब कुछ नया लगता है, वह इस फैसले से प्रसन्न भी होती है, और प्रथम मिलन की अनुभूतियों को सोचती है, वह पति के समक्ष पूर्णतः आत्मसमर्पण कर देती है। अपनी इस समर्पण भावना के विषय में वह सोचती है - "परीक्षा में सदा सर्वोच्च स्थान मुझे ही मिले - इस धुन ने न कानों को और कुछ सुनने दिया और न आँखों को अन्यथा कुछ देखने ही दिया। पढ़ाई की धुन ने जीवन के जिस स्वरुप को देखने-सुनने से वंचित रखा था, उसे आनन्द ने जैसे शादी के बाद प्रथम मिलन में ही दिखाने और सुनाने का बीड़ा उठा लिया था। वह सब कुछ अनदेखा और अनछुआ था। कल्पना भी कितनी मधुरिम हो जाती है जब वह सजीव रुप धारण कर लेती है - इसकी रसात्मक अनुभूति मुझे इनका सान्निध्य करा रही थी। सान्निध्य-सुख जितना मनोरम होता है, उतना ही अधिक मुझे उपलब्ध भी था। इन पर भी न

होना चाहते थे। फैक्ट्री का नवनिर्मित भवन हमारे लिए उन दिनों विलासविला बना हुआ था। इनके लिए मैं थी और मेरे लिए यह थे। ऐसे क्षण रह-रहकर उपस्थित हो रहे थे, जब हमारा दोपना ही न समाप्त हो जाता था, बल्कि एक-दूसरे में ऐसे समा जाते थे, जैसे अस्तित्वविहीन बन गए हों। अनस्तित्व की स्थिति से ठीक से उबर भी न पाते थे, कि पुनः उसी स्थिति में पहुँच जाते थे। समय क्या है, किस गति से कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया है - कुछ भी होश न था। इस बेहोशी के आलम में किसका कितना योगदान था, कहना कठिन था। न सूरज डूबने का ध्यान था, न चन्द्रमा के निकलने का ही आभास हो पा रहा था। बस, अपने नवनिर्मित आवास तक ही हमारा संसार सिमट कर रह गया था। चिंतन-मनन, सोच-विचार आदि सभी का स्थान क्रिया ने ले लिया था। दिन-रात का अंतर मिट गया था। सुबह-शाम का भेदभाव समाप्त हो गया था। अर्द्धरात्रि दिन का मध्याह्न प्रतीत होती थी और दिन का मध्याह्न भी अर्द्धरात्रि से कम मादक नहीं लगता था। भूले-भटके किसी का फोन भी आ जाता तो 'रांग नम्बर' कहकर यह काट देते थे। यदि सशरीर भी कोई उपस्थित हो जाता था, तो यह ऐसा सटीक बहाना बनाकर उसे टरका देते थे कि वह तनिक भी देर के लिए व्यवधान न बन पाता था। हाँ, मंगला अवश्य एक-दो वार आ जाती थी, वह भी हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ताकि किसी वस्तु के लिए फैक्ट्री के बाहर न निकलना पड़े।"[22]

दिशा सुशील और कर्त्तव्यपरायण थी, परिस्थितिवश हर कार्य को अंजाम तक पहुँचाने में वह निपुण थी। वह सामान्य नारी की तरह इस जीवन के परम्परागत वैवाहिक स्वरुप को स्वीकार तो कर लेती है, किन्तु पति के परिवार की परम्पराओं के अनुकूल आचरण कर पाने में असमर्थता जाहिर करती है। दिशा की बन्धनविहिनता का नजरिया उसे इन मनःस्थिति में भाग खड़े होने में सहायता करता है। स्वच्छन्द विचारों वाली दिशा जब विवाह के बँधन में फँस जाती है, अन्य सीमा-रेखाओं में कैद हो जाती है, तब वह यही सोचने लगती है कि यह नारी जीवन क्या है, जो दो परिवारों के बीच जीने को विवश है - "न जाने क्यों सहसा मुझे माँ की

स्मृति ने आ घेरा। वह परम्पराओं, संस्कारों और मर्यादाओं की घोर विरोधी हैं। उनका विश्वास है कि ये सब बन्धनों के विविध रुप हैं, और सभी रुप नारी को परतंत्र बनाए रखने के लिए हैं। परतंत्रता सदा विकास-विरोधी स्थिति होती है। इसी स्थिति विशेष में नारी को जकड़कर रखना चाहता है पुरुष। पुरुष प्रधान समाज के ये सबसे प्रबल शस्त्रास्त्र है। इन्हीं के सहारे पुरुष ने नारी को सदा परतन्त्रता की श्रृंखलाओं में जकड़ा है। इस शती की आधुनिक नारी ने इन श्रृंखलाओं की जकड़न के कष्ट को समझा और इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई जो पुरुषजाति को अनुचित प्रतीत हुई। बस, शुरु हो गया उचित अनुचित का संघर्ष। संघर्ष में कभी-कभी नारी भी सशक्त प्रतीत हुई। पुरुष को उसके समक्ष नतमस्तक होना पड़ा। सदा झुकानेवाला झुका, तो किन्तु थोड़े समय के लिए ही। नारी को झुका हुआ पुरुष न भाया। उसे दया आ गई, थोड़ी छूट दे दी। पुरुष फिर अकड़कर खड़ा हो गया, किन्तु अकड़ सदा सामयिक होती है। कुछ समय के बाद ही वह नम्रता में परिवर्तित हो जाती है और नम्रता आभूषण है नारी का।"[23]

दिशा भी अन्य नारियों की भाँति काल्पनिक सुख में विचरण करती थी, परन्तु जब उसे यथार्थ जीवन के कष्टपूर्ण वातावरण का सामना करना पड़ा, तब उसकी अंतर्रात्मा से एक आवाज़ आई, कि यहाँ से भाग जाओ। दिशा के हृदय में प्रेममयी स्वरुप तो था ही परंतु एक विद्रोहात्मक रुप भी था। एक बहु होने के कारण वह अपने समाज और घर-परिवार के तमाम रीति-रिवाज़ों को निभाती है, किन्तु कुल-देवता की पूजा के लिए निर्वस्त्र होना और अपने शरीर पर कपड़ों के स्थान पर बेशुमार आभूषण धारण करना कि एक भी अंग न दिखाई पड़े, इस कुरिवाज़ व परम्परा का वह खंडन करती है, जिससे उसकी आत्मा तक विद्रोह कर उठती है - "भाड़ में जाएँ ऐसे आभूषण। प्रतिष्ठा से अधिक प्रिय आभूषण थोड़े ही होते हैं, जब प्रतिष्ठा ही न रही तो आभूषणों को लेकर क्या करुँगी। ये नारी तन के श्रृंगार नहीं हैं, अपमान के उपकरण हैं। इनके लिए नारी का इतना अपमान कैसी विडम्बना है..... नहीं रहना है मुझे इस घर में। नहीं चाहिए मुझे इस घर की कोई भी सुख-सुविधा। धिक्कार है ऐसे सुख को जिसका आधार नारी का अपमान हो।"[24] इस प्रकार लेखक ने दिशा के विविध रुपों को चित्रित किया

है।

डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी ने उपर्युक्त अपनी रचनओं में पात्रों की विविध भूमिकाओं को चित्रित किया है। डॉ. त्रिपाठी के उपन्यासों को मूलतः दो भागों में बाँटा जा सकता है - ऐतिहासिक और सामाजिक। ऐतिहासिक उपन्यासों में पात्रों के इस वैविध्य मूलक चरित्रों द्वारा लेखक यह स्पष्ट करना चाहते हैं, कि इतिहास सदा जीवंत रहता है, जो इतिहास को जीवंत रुप में ही ग्रहण करते हैं, उनके जीवन-निर्माण में इतिहास की भिक्षाओं और परम्पराओं का प्रेरणा रुप में पर्याप्त योगदान भी रहता है। डॉ. त्रिपाठी ने ऐतिहासिक उपन्यास के साथ-साथ सामाजिक उपन्यासों की भी सृष्टि की है। परन्तु उनकी कई रचनाएँ वैचारिकता के परिप्रेक्ष्य में चित्रित हुई है। उनके सामाजिक उपन्यास समकालीन युग चेतना से अनुस्यूत ही नहीं है, बल्कि भाव, विचार, चरित्र और घटनाओं के कथात्मक संग्रन्थन और संगुम्फन में युग-चेतना विद्यमान है। जो कि बड़े ही सम्मोहक और मधुर रुप में निनादित होता है।

सन्दर्भ सूची

1. विकलॉग - (कुछ शब्द से) - डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी
2. प्रजाप्रिय प्रजेश - डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी - पृष्ठ - 157-158
3. वही - वही - पृष्ठ - 214
4. सत्ता और संघर्ष - डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी- पृष्ठ - 8
5. दुरभि-सन्धि - डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी - पृष्ठ - 366-367
6. वही - वही - पृष्ठ - 365
7. वही - वही - पृष्ठ - 397
8. वही - वही - पृष्ठ - 397
9. महाराज - वाल्मीकि त्रिपाठी - पृष्ठ - 273
10. वही - वही - पृष्ठ - 197-199
11. वही - वही - पृष्ठ - 276
12. वही - वही - पृष्ठ - 335
13. फिलहाल- डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी - पृष्ठ - 176
14. वही - वही - पृष्ठ - 175
15. उपेक्षिता-(यही है) से- डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी
16. वही - वही - पृष्ठ - 201
17. वही - वही - पृष्ठ - 204-205
18. वही - वही - पृष्ठ - 302
19. कैसा दोराहा - डॉ. वाल्मीकि त्रिपाठी - पृष्ठ - 27-28
20. वही - वही - पृष्ठ - 30
21. वही - वही - पृष्ठ - 41-43
22. वही - वही - पृष्ठ - 132-133
23. वही - वही - पृष्ठ - 137-138
24. वही - वही - पृष्ठ - 146-147